CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवन-परिमल

— १९९१ —

परिशिष्ट

श्रीज्ञानेश्वरी अर्थात् श्रीमद्भगवद्गीता-भावार्थदीपिका

—बारहवां अध्याय : भक्तियोग :—शेष भाग

[विमलवाणी में प्रतिबिम्बित]

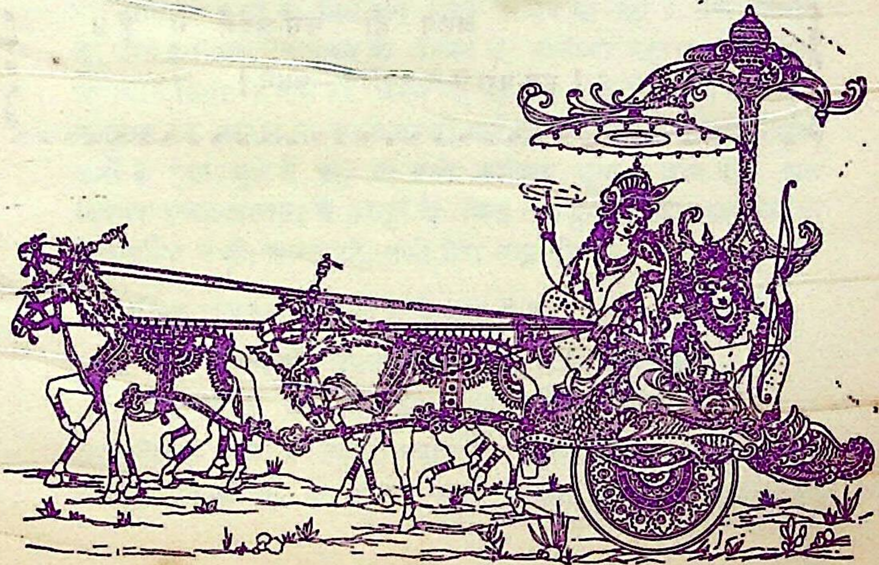

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं न कहीं का, किसी भी गाँव का,
एक ही स्थान का, स्थान एक ही।

जाऊँ कहीं नहिं, लौट न आऊँ!
व्यर्थ हैं सारे बोल बाँट।

मेरा न कोई अपना-पराया;
सच ही किसी का, है नहीं कोई।

जीना या मरना होता न मेरा,
सदा अखण्डित, जैसा हूँ वैसा।

तुका कहे रूप [illegible] नाम, न मेरे;
अलग ही कर्म-अकर्म से हूँ॥

[मूल मराठी से अनूदित—भोली]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5-3

ज्ञानसिद्धि से ध्यानावस्था को आलिङ्गन सम्पन्न होता है। यह ध्यानावस्था का आश्लेष क्या है? जितने भाव हृदय में उठ सकते हैं या उठते हैं वे सब के सब ध्यानावस्था को ही आलिङ्गन देते हैं, बहिर्मुखता विसर्जित है; अन्तर्मुखता में प्राप्ति की आकाङ्क्षा नहीं। कर्म के फल का त्याग हो चुका, एक प्रकार की शान्ति है, भावों के आवेग नहीं हैं, भावनाओं-इच्छाओं की उछल-कूद नहीं है; ऐसी जो सम्पूर्ण शमन की अवस्था है, वहाँ प्रेमभाव जागृत होता है। भावनाओं के शमन के बिना भावकाया का सर्जन नहीं हो सकता। भावना-वासना-इच्छा-आकांक्षा इत्यादि जो मन के ऊपरी स्तर पर उठने वाले तरङ्ग हैं, ये शान्त हों, चित्त निस्तरङ्ग हो, यही तो शान्ति का अर्थ है। वह न हो तब तक ध्यानावस्था का आश्लेष नहीं होता। एक मात्र प्रेमभाव शेष रह जाता है तब ध्यानावस्था का आश्लेष होता है।

[जितनी बार ज्ञानेश्वरी पढ़ते हैं उतनी बार महाराज के क्रान्त-दर्शन को देख कर मुग्ध हुए जाते हैं हम। पचास वर्षों से ज्ञानेश्वरी पढ़ते रहे हैं, प्रत्येक बार अर्थ की कुछ नई छटा सामने आती है।]

ऐसी अवस्था होने पर कर्म-भाव दूर ही ठिठक जाता है।

साधना करने के लिये कर्म करने चाहिए या नहीं? एक विवाद का प्रश्न है। वासुदेव-वचन के आश्रय से ज्ञानेश्वर महाराज ने सुगम समाधान किया कि कर्म तो जीवन रहे तब तक होते ही रहेंगे अतः कर्म के त्याग का आटोप न करके या तो कर्म ही मेरे लिये करो, या अपने कर्मों के फल मुझे दे दो, या सभी कर्मफल शून्य में जाने दो। फल विषयक इच्छा-लालसा के तरङ्गों से चित्त तरङ्गित न रहे; उन कषायों से कलुषित न हो, शान्त रहे, तभी मेरा सङ्ग होगा।

श्रीमद् राजचन्द्र ने सरल सीधे शब्द में कहा है न :—

"कषाय की उपशान्तता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।
भव में खेद प्राणीदया, वह कहिये जिज्ञास।"

पाञ्चभौतिक काया में जितने कषाय हैं, उनका उन्मूलन न हो तो कम से कम उपशम तो हो जाय। इनके उपशम के बिना भावावस्था-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावसमाधि भी नहीं हो सकतो; और भावसमाधि के बाद ही ध्यानावस्था एवं शुद्ध समाधि की स्थिति आती है ।]

जिस समाधि में कर्म अपने आप झड़ जाते हैं उस की बात यहाँ महाराज कर रहे है। ऐसी अवस्था होती है, तब कर्म अपने आप उस साधक से दूर रहने लगते हैं । आग्रह पूर्वक पहले ही सामने खड़े कर्म का त्याग करने वाले लोग परमार्थ के नाम से बहुत बड़ा कर्मप्रपञ्च खड़ा करते हैं ।]

वासुदेव कहते हैं अर्जुन ! कर्म पहले मत छोड़ो । तुम कहते हो कि युद्ध नहीं करूँगा; लेकिन तुम्हारी प्रकृति तुम से युद्ध करायेगी ही। क्षत्रिय-रक्त के कण-कण में अन्याय-अधर्म के सशस्त्र प्रतिकार का आवेग-आवेश भरा हुआ है; इस समय मोहवश होकर अपनी प्रकृति के विरुद्ध बोल रहे हो, लेकिन यह तुम से हो नहीं पायेगा । छोड़ने से कर्म छूटता नहीं, जब भाव की अवस्था परिपक्व होगी तब कर्म स्वयं ही तुम से दूर ठिठक जायेंगे ।

कषायों की उपशान्तता के बिना, सभी प्रकार की भावना-वासना-इच्छाओं-आवेगों के शान्त-विसर्जित हुए बिना, कर्म छोड़ना भक्ति के लिये भी विहित नहीं है, वाञ्छनीय नहीं है, वैज्ञानिक नहीं है। शरीर-मन के गुण-धर्म बदलते-बदलते अनावश्यक कर्म स्वयं छूट जायेगा। जब आवेग-आवेश शान्त होते हैं तो इन्हें उपजाने वाले संस्कारों के प्रति हमारी तदात्मता शान्त होती है। वह संस्कारों से तदात्मता शान्त हुए बिना आवेग शान्त नहीं होते, और आवेग शान्त हुए बिना कर्म वस्तुतः छूट नहीं सकते ।

हे सुभद्रापति तुम्हारे लिये एक ही प्रस्तुत है—अभ्यास । कर्म का दूर होना, याने कर्म के प्रयोजनों का, कारणों का दूर होना। वह निराकरण फलत्याग से होगा और फलत्याग के लिये चित्त की शान्ति व समता अपेक्षित है, इसलिये तुम अभ्यास करो !

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

अभ्यासाहूनि गहन । पार्था मग ज्ञान ।
ज्ञानापासोनि ध्यान । विशेषिजे ।।१४१।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मग कर्मफल-त्यागु। तो ध्यानापासोनि चांगु।
त्यागाहूनि भोगु। शान्तिसुखाचा ॥१४२॥
ऐसिया या वाटा। इहींचि पेणां सुभटा।
शान्तिचा माजिवटा। ठाकिला जेणें ॥१४३॥

अभ्यास से गहन श्रेयस्कर ज्ञान है; ज्ञान से अधिक गहन ध्यान है, ध्यान से अधिक श्रेयस्कर कर्मफल-त्याग है और त्याग से भी अधिक गहन श्रेयस्कर है शान्तिसुख का भोग। शान्ति के सुख का भोग अत्यन्त सूक्ष्म है। [क्यों ? जब भावना-वासना-इच्छा सब शान्त हो गये हों तब कर्म करने का सङ्कल्प नहीं उठता। कुछ भी करने का सङ्कल्प नहीं उठता। Activity (क्रियाशीलता) नहीं है, और Passivity (निष्क्रियता, अलसभाव) भी नहीं है। विषय-पराङ्मुखता जीवनपराङ्मुखता नहीं है। अभिमुखता कायम है, पर अभिक्रम नहीं है। इन दोनों का अन्तर जो साधक-अभ्यासी व्यक्ति हों, वे समझ सकेंगे। जीवन के प्रति तत्परता, अभिमुखता है, लेकिन अभिक्रम नहीं, अर्थात् "मुझमें इतने गुण हैं, शक्तियाँ हैं, बुद्धि इतनी परिपक्व व प्रशिक्षित है तो मैं यह करूँ! अपने लिये करूँ, समाज के लिये करूँ, विश्व के लिए करूँ।"— ऐसे स्वयं सङ्कल्प करके किसी कार्य का बीड़ा-जिम्मा उठाने की वृत्ति नहीं होती। संकल्प में से ही अभिनिवेश उठता है। अभिनिवेश के बाद ही इन्द्रियाँ तदनुसार काम करने लगती हैं। चित्त जब शान्ति में प्रतिष्ठित होता है तब अभिमुखता-तत्परता प्रतिक्षण रहती है, पराङ्मुखता या जड़ता नहीं होती (A peace pervading the whole being.) वह शान्ति जीवन की पद्धति एवं शैली बन जाती है। पर 'अनारम्भ' (स्वयं उठकर कुछ नया आरम्भ न करना) रहता है। "अनारम्भो नाम प्रथमं बुद्धिलक्षणम्" बल्कि वह प्रज्ञा का लक्षण है। आग्रह सब छूट जाते हैं। आसक्तियाँ शान्त हो जाती हैं, तब पराङ्मुखता और अभिक्रम के भीतर की मध्यस्थिति चित्त में बनी रहती है।

यह अध्यात्म है। इसे भलीभाँति समझना चाहिये। नहीं तो लोग शान्वि के नाम से, अध्यात्म के नाम से कर्मपराङ्मुख-जीवनपराङ्मुख बनते हैं, निष्क्रिय अक्रिय आलसी बन जाते हैं। निष्क्रियता (Passivity) और क्रियापरायणता (activity) के मध्य की स्थिति में, मध्यस्थ भाव में अध्यात्म जिया जाता है। अपना कोई अभिक्रम न होना, कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सङ्कल्प न उठना यह जड़ता नहीं। वेदान्ताभ्यास से जड़मति नहीं, जीवनपराङ्मुख नहीं, मानव-सम्बन्ध-पराङ्मुख नहीं, फिर भी संकल्प और अभिक्रम नहीं। ऐसी गहन अवस्था है शान्ति की। उस सुख के उपभोग की रसिकता गहनतम है।

संकल्प नहीं, विकल्प नहीं, अभिक्रम नहीं, फिर भी जड़ता नहीं, ऐसी तत्परता से भरी चेतना है। विश्वचेतना पर किसी एक बिन्दु से उठे संकल्प का भी आग्रह-भार नहीं। आग्रह से आक्रमण का प्रारम्भ है; आग्रह हिंसा को उत्पन्न करता है। अतः आग्रह से सर्वथा मुक्त है शान्ति।

ज्ञानेश्वर महाराज की दृष्टि में त्याग से अधिक महत्त्व है शान्ति का। 'त्याग' को भी 'कर्म' और वह भी 'मेरा कर्म' बनाने वालों के चित्त का दर्प प्याज-लहसुन की गन्ध से भी उग्र होता है। भोगी के अहङ्कार से कहीं अधिक तीखा त्यागी का अहङ्कार होता है, दूसरों को चुभने वाला होता है। इसलिये ज्ञानेश्वर कहते हैं कि त्याग सहज होकर उसके बाद चित्त में शान्ति बसे, प्रशान्तात्मा बने, तभी ज्ञान और त्याग सार्थक हैं। प्रशान्ति के बिना प्रसाद नहीं। त्याग में प्रसाद नहीं। वर्षों तक मौन रखा हो किसी ने, लेकिन यदि भीतर संकल्प-विकल्प और आग्रह-अभिनिवेश बने रहे हों तो वह मौन का अपमान है, उपहास है मौनावस्था का। इतनी गम्भीर बात हमें सीखनी है यहाँ। भीतर परम आह्लाद-प्रसाद भरा है, वही उपस्थिति में से झरता है, अपने आपको किसी पर लादना-थोपना नहीं है, जो कर्म की माँग सामने आये उसे प्रतिसाद देना है; मानवीय सम्बन्धों को ज्यों का त्यों स्वीकार करना है किसी आग्रह या अपेक्षा के बिना।

ज्ञानेश्वरी जीवन जीने का शास्त्र है। श्रीमद्भगवद्गीता के लिये कहा है स्वयं महाराज ने प्रथम अध्याय में—

ये नहीं बोलने के शब्द, ये आत्मावतरण के मन्त्र।
ये जीवन जीने के शास्त्र! समझ पार्थ!

ऐसा यह रास्ता है। इसमें ये मुकाम पड़ते हैं। इस रास्ते से शान्ति रूपी मंजिल तक पहुँच जाता है। अभ्यास (यम-नियमादि अष्टाङ्ग योग) करो, उसके द्वारा परोक्ष ज्ञान तक पहुँचो, फिर ध्यानावस्था तक पहुँचो,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्यान में अपरोक्ष-ज्ञान है; उससे कर्मफल-त्याग होगा, वहाँ से फिर शान्ति में पहुँच कर निवास होगा।

[हमारे अपने जीवन में यह क्रम है या नहीं ? यह देख लेना। अब जिसके जीवन में शान्ति प्रतिष्ठित होती है उनके लक्षण कह रहे हैं—]

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥

जो सर्वभूतांच्या ठायीं। द्वेषाते नेणेचि काहीं।
आप परु नाहीं। चैतन्य जैसा॥१४४॥

उत्तमा तें धरिजे। अधम तरि अव्हेरिजे।
हें काँहीं च नेणिजे। वसुधा जेवीं॥१४५॥

कां रायांचे देह चाळूं। रंका परौतें गाळूं।
हें न म्हणेचि कृपाळू। प्राणु पै गा॥१४६॥

सृष्टि में ओत-प्रोत चित्शक्ति में-चैतन्य में अपना-पराया कोई भाव नहीं है। वह सब में ओत-प्रोत है, घास के तिनके से लेकर चींटी अश्व-व्याघ्र-गज-मनुष्य सभी कायाओं में वह एक ही चैतन्य ओत-प्रोत है। उसमें कोई वैषम्य-नैर्घृण्य या अपना-पराया आदि भेद-भाव नहीं है, वैसे सभी प्राणियों के विषय में वह राग और द्वेष जानता ही नहीं। जहाँ एक के विषय में राग होगा वहाँ दूसरे के विषय में (चाहे प्रच्छन्न ही हो—) द्वेष रहता ही है। किसी भी व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रति राग हो और कहीं भी द्वेष सर्वथा चित्त में न हो यह असम्भव है। अतः जिसके भीतर शान्ति प्रतिष्ठित है, जिसकी गोद में शान्ति खेलती रहती है उसके चित्त में अपना-पराया भाव नहीं होगा—यह लक्षण है।

[राजस्थान-सेवकसंघ ने जयप्रकाशजी को अपना अध्यक्ष बनाया था। एक बार राष्ट्रीय सेवकसंघ का सम्मेलन चल रहा था। एक नवयुवक कार्यकर्त्ता ने खड़े होकर पूछा जे० पी० से कि "आपकी धर्म की क्या व्याख्या है ? धर्म को आप क्या समझते हैं।" जे० पी० तो विनम्रता-निरहङ्कारिता की मूर्ति थे। उन्होंने जवाब दिया कि "धर्म तो मैं क्या जानूं ? मुझे ऐसा लगता है कि जिसके चित्त में अपना-पराया भाव नहीं रहता, वही व्यक्ति धार्मिक है। जब तक चित्त में भेद-भाव है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तब तक धर्मोदय नहीं होता। अभेद मानव-धर्म बनता है, वहाँ साम्प्रदायिकता को अवकाश नहीं।"]

"वह व्यक्ति द्वेष नहीं जानता"—इसका अर्थ है कि उसका कहीं राग नहीं। आत्मसिद्धिशास्त्र में श्रीमद्‌राजचन्द्र ने कहा है कि बन्धन का जो कारण है, उसका निराकरण करते हो तो मुक्ति स्वयंसिद्ध है। राग और द्वेष दोनों को उन्होंने बन्धन का स्रोत बताया। और जीव मात्र को मोक्ष-स्वरूप कहा।

"सभी जीव हैं सिद्धसम जो समझे सो होय!"

उत्तम को पकड़ना, अधर्म की अवहेलना उपेक्षा करना पृथ्वी नहीं जानती। (ज्ञानेश्वर महाराज की रसिकता है कि पहली ओवी में सर्वव्यापी चैतन्य की उपमा ली और दूसरी ओवी में सबको धारण करने वाली धरित्री व धात्री (सबका पोषण करने वाली) पृथ्वी की उपमा रखी, जो आत्मा से उत्पन्न सृष्टि के पाँचों तत्त्वों में अन्तिम व स्थूलतम है।

वसुधा जिस तरह उत्तम को रखती है उसी प्रकार अधम को भी अपने वक्ष पर चलने का अवसर देती है। ऐसा समभाव भक्त के चित्त में रहता है। प्रेम व्यक्त होता है तो करुणा या वात्सल्य बनकर हो। वसुधा जैसे उत्तम का आलिङ्गन और अधम का तिरस्कार नहीं करती उस प्रकार भक्त का—जिसके चित्त में शान्ति प्रतिष्ठित है उस व्यक्ति का—व्यवहार सबके प्रति समान होता है।

भक्ति क्रिया नहीं, कोरा ज्ञान या कर्म नहीं, भक्ति जीवन जीने की पद्धति व शैली है। भक्ति पूर्ण पुरुषार्थ है। अद्वैतबोध मधुर हो कर व्यक्त होने लगता है वह भक्ति है। "राजा के देह में हलन चलन कराऊँगा और रङ्क के देह में हलन चलन नहीं कराऊँगा" ऐसा कभी कृपालु प्राणतत्त्व ने कहा है अर्जुन? इसी प्रकार जो शान्तिसिद्ध व्यक्ति हैं उनका सभी के प्रति समान व्यवहार होता है।

गाईची तृषा हरूं। कां व्याघ्रा विष होऊनि मारूं।
ऐसें नेणेंचि का करूं। तोय जैसें ॥१४७॥

जल ने कब भेद भाव रखा गाय और व्याघ्र में! जल कभी नहीं कहता कि गाय की तो तृषा मिटाऊँगा और बाघ के लिये विषरूप हो जाऊँगा। उसी प्रकार शान्तिसिद्ध व्यक्ति भेदभाव नहीं करते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[स्मरण करें हम गान्धीजी का। ज़िन्ना साहब अड़ गये थे, और बापू के पड़ाव पर आकर उनसे बातचीत के लिये भी तैयार नहीं थे। तब गाँधी जी ने कहा "मैं जाऊँगा, बातचीत तो दोनों को मिलकर करनी है न!" गाँधी जी के साथियों को बहुत गुस्सा आता था कि जिन्ना इतने ज़िद्दी हैं, अपमान करते हैं, फिर भी बापू क्यों जाते हैं, उसके सामने छोटे क्यों बनते हैं? बापू के चित्त में वह कुछ नहीं था; यही सोचते कि "वह नहीं आना चाहता तो मैं चला जाता हूँ। देश का काम करना है।" डॉ० अम्बेडकर अड़ गये थे, तब भी बापू ने बहुत-बहुत समय दिया। बापू के चित्त में यह भेद कभी नहीं आया कि "यह महादेव है और यह ज़िन्ना है; एक मेरी सेवा करता है और एक मुझसे लड़ता है।" अंग्रेजों (में एक विशेष अधिकारी) ने कहा था कि "इस व्यक्ति (गाँधी) से लड़ना बड़ा मुश्किल है, इसे खरीदा नहीं जा सकता, इसे लुभाया-डराया नहीं जा सकता; यह हमारी सल्तनत खत्म करना चाहता है फिर भी मनुष्य के नाते हमसे इतना प्यार है उसके दिल में कि हम में से कोई भी अधिकारी या वॉयसरॉय इसकी गोद में सिर रख कर सोये तो निश्चिन्त रह सकेगा, वहाँ वह अपने निवास-भवन से अधिक सुरक्षित रहेगा।"

ऐसे अभेद-अद्वैत को जीने वाले सन्त-महात्मा तो अनेक हो गये, पर मैंने दृष्टान्त उन गाँधी जी का दिया जो हमारे सामने ही, घोर राजनीति में सतत जनसम्पर्क में रहते हुए सामान्य व्यक्ति थे।

व्यवहार और परमार्थ की अलग सत्तायें, दोनों के लिये अलग-अलग नियम और आचार-संहितायें मानी जायेंगी, तब तक न भक्ति सिद्ध होगी, न ज्ञान सिद्ध होगा। सत्ता जीवन की एक ही है और सभी सम्बन्धों में एक ही जीवनमूल्य रखते हुए जीना है—यह जो तय करेगा वही भक्ति को एवं आत्मज्ञान को जी सकेगा। बाकी तो भक्ति को भावना-विलास और ज्ञान को बुद्धि में विचारों-जानकारियों का संग्रह मान कर जीवन की सन्ध्या में रूखे-सूखे, खाली हाथ लिये चले जायेंगे।]

महाराज कह रहे हैं कि जैसे जल गाय और बाघ के प्रति भेदभाव रखना जानता नहीं, समान रूप से सबकी प्यास बुझाता है, वैसे शान्त व्यक्ति किसी के भी प्रति कोई भेदभाव रखना जानता ही नहीं। भक्ति में जीव का शील बदल जाता है। प्रभुसत्ता की अखण्ड एकरसता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी दृष्टि में समायी रहती है, अतः भेद, द्वैत का आचरण भक्त द्वारा हो ही नहीं सकता। (सौराष्ट्र की सन्त) गंगासती ने गाया है न !—

"शीलवन्त साधु को बारम्बार करें नमन।
जिनका बदले ना कभी वर्तमान जी।"

तैसी आघवांचि भूतमात्रीं। एकपणें जया मैत्री।
कृपेशीं धात्री। आपणपां जो ॥१४४॥
आणि मी तूँ हें भाष नेणें। माझें कांहीचि न म्हणें।
सुखदुःख जाणणें। नाहीं जया ॥१४९॥

समस्तभूतों के लिये, प्राणीमात्र के लिये एक जैसी (समान गहराई व व्यक्त रूप वाली) मैत्री होती है। 'एकपणें' में श्लेष है। समस्त सृष्टि में, प्राणिमात्र में 'एक' प्रभु की सत्ता वे पहचानते हैं, अतः सब से सहज स्वाभाविक हार्दिक मैत्री-सख्यभाव-प्रेम उन के हृदय में उमड़ता है।

"यह विश्व नहीं रे माया ! यह विश्व प्रभु की काया !"

ज्ञानेश्वर महाराज की वाणी, वह भी गीता का भावार्थ प्रकट करने वाली वाणी, वहाँ एक शब्द भी अद्वैत को छोड़ कर कैसे निकले ? इसलिये कहा कि भक्त की मैत्री भूतमात्र के प्रति एक समान होती है क्योंकि वे जानते हैं कि सब में एक की ही सत्ता है, अनेकता तो एकता का प्रसाधन है, श्रृङ्गार है। भक्त की दृष्टि अनेकता को अपने प्रभु के श्रृङ्गार रूप में देखती-सराहती हुई उस से सजे-धजे प्रभु पर ही टिकती है; अनेकता में भ्रमित नहीं होती। अपना प्रियजन खूब सज संवर कर सामने आये तो क्या प्रेमी उस सजावट में ही उलझ कर उस व्यक्ति को पहचानता नहीं ? इसी तरह अनेकता की माया भक्त को ठग नहीं सकती।

सब के प्रति समान मैत्री के कारण भक्त का जीवन सर्वत्र कृपामय, अनुग्रहमय बन जाता है। कृपा की धात्री (धाय या माँ) होती है भक्त की दृष्टि। (The person is physically-in flesh and bone-the bliss and divinity).

'मैं'-'तू' की भाषा ('अस्मत्-युष्मत्-प्रतीति') वह जानता नहीं। [श्री ज्ञानेश्वरी में अनेकों (प्रायः ५५) स्थान ऐसे हैं जहाँ लगता है मानो आद्यशङ्कराचार्य की वाणी का अनुवदन है। और कुछ (३०-३५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थानों पर लगता है कि श्रीरामानुज का अनुमगन हो रहा है। आरम्भ में ही विनम्रता से ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है—"मैं तो बालक हूँ, भाष्यकारों से राह पूछते-पूछते गीतार्थ कहता चल रहा हूँ। "—सो सभी प्राचीन आचार्यों की वाणी की छटायें ज्ञानेश्वरी में जगह-जगह झलक दिखाती हैं।]

आन्तरिक प्रत्यय (बोध) में से भाषा निकलती हैं, भक्त के चित्त-बुद्धि-बोध में कहीं 'मैं'-'तू' की और उस से आने वाले भेदभाव की छाप है ही नहीं; इसीलिये भक्त के मन-वाणी में 'मैं-तू' की बात उठती नहीं। विश्व से स्वयं के पृथक् होने का भान ही नहीं है उन्हें। इसीलिये "यह मेरा है"—यह शब्द वह कह नहीं सकता। [भक्त के जीवन का यह शील ही सच्चे सन्तों की वाचिक अभिव्यक्ति में अन्य पुरुष (अंग्रेजी का Third person के रूप से व्यक्त होता है—"यह बच्ची कहती है"—(माँ आनन्दमयी) "बाबा कहता है" –(विनोबा) "K. says this way" "The friend of humanity" (जे० कृष्णमूर्त्ति) इस प्रकार के शब्दों का वे अपने लिये प्रयोग करते थे। अपने लिये "मैं" शब्द तक उन के मुँह से आता नहीं। ठाकुर परमहंस (रामकृष्णदेव) कहते "माँ कराती है", अनेक सन्त कहते हैं—"यहाँ ऐसे होता है।…" "इसे खिला दो, इसे ले जाओ।"—यह केवल पद्धति नहीं है, दम्भ नहीं, पाखण्ड नहीं। वस्तुतः "मैं कुछ हूँ, मैं कोई व्यक्ति हूँ"—यह भाव ही निकल जाता है।

There is a sense of nobodyness and nothingness. अहङ्कार-निरसन के बाद, ग्रन्थिछेदन के बाद एक ऐसी अवस्था होती है कि "मैं" कहने के लिये कोई पृथक् बिन्दु या केन्द्र ही रहता नहीं। ऐसी केन्द्रमुक्त चेतना की अवस्था 'युटोपिया' नहीं। यह अनुभूत तथ्य व सत्य है।]

कुछ भी 'मेरा है' कहने की संभावना ही नहीं वहाँ। इसीलिये उसे सुख-दुःख नहीं होते। सुख-दुःख तो वहीं सम्भव हैं जहाँ कोई चेतनाकेन्द्र हो जिस के अनुकूल-संवेदन प्रतिकूल संवेदन हो सकते हों। अनुकूल-प्रतिकूल का भाव हो तब तो सुख-दुःख होंगे !

[यह सन्त-चेतना की कक्षा की बात है। पामरता में और 'महात्म'-ता में कहाँ अन्तर है यह समझने की रेखा है यह अहंकेन्द्र का होना-न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होना। ···एक प्रसङ्ग स्मरण हो आया। हमारे दो युवा मित्रों को 'ज़ेन'-बौद्धदर्शन का अध्ययन करना था। वे जापान गये, कोबो में एक 'ज़ेन'-बौद्ध-केन्द्र है। जिनके पास अध्ययन करना था वे 'ज़ेन-मास्टर" (ज़ेन बौद्धदर्शन के अनुभवी गुरुजी) उस केन्द्र के प्रमुख थे। ये दोनों युवक उनको देख कर हैरान हुए। वे गुरुजी सुबह सब के साथ उठते; कमरा-आँगन झाड़ते-बुहारते, रसोई करने और बर्तन माँजने में मदद करते। बिल्कुल सामान्य व्यक्ति, सब के साथ दैनिक सब कामों में लगे रहते किसी भी तरह से कोई विशिष्टता दिखे ही नहीं—न बोलचाल में, न रहन सहन में, न कपड़ों में—कहीं कुछ भी विशेष नहीं। ये दोनों युवक चकरा गये, तीन चार दिन तक देखते रहे; सोचने लगे कि अरे! हम इन के पास क्या सीखने आये हैं? हमारे जैसे ही तो ये भी खाते-पीते उठते-बैठते हैं। इन में और हम में कोई अन्तर नहीं।—आखिर रहा नहीं गया, पाँचवें दिन उन गुरुजी से कहा कि हमें आप से बात करनी है। उन्हों ने पूछा—"कहो भाई! क्या कहना है?"

युवक बोले—"हम तो आपसे सीखने आये थे।"

जे० मा०—"मैं जानता हूँ।"

युवक—"हममें और आप में तो कोई फर्क नहीं दिखाई देता। आप तो हमारी तरह ही जी रहे हैं।"

जे० मा०—"भाई अन्तर बहुत बड़ा है—
When you eat you do not eat! When I eat, I eat. When you sleep you do not sleep, when I sleep, I sleep.

यानी तुम जब खाने बैठते हो, तब तुम अच्छी तरह खाते नहीं, क्योंकि तुम्हारा दिमाग भटकता रहता है। थाली में से ग्रास लेकर मुँह में डाले जाते हैं लेकिन दिल-दिमाग़ कहीं और होते हैं। और मैं जब खाता हूँ तब खाता हूँ; सोता हूँ तब सोता हूँ। तुम तो बिस्तर में पड़े रह कर भी सोते नहीं।·········"

सन्त एकनाथ ने भागवत में एक स्थल पर कहा है—

"भीतर शाश्वत सत्य पहचाने! लोगों में रहे लोगों जैसे।
असामान्य न बने—लोगों के प्रति॥"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यानी अन्तस्तल में शाश्वत सत्य की पहचान अखण्ड रहे, पर व्यवहार में उसका (सत्य पहचानने का) ढिंढोरा न पीटे; देशान्तर ग्रामान्तर, जीवनशैली में बाह्य अन्तर करने की ज़रूरत नहीं। लोगों के बीच सबके साथ रहते हुए सबके सदृश ही व्यवहार-बर्ताव करते रहें। लोगों के बीच असामान्य न बने। नववधू जैसे (प्राचीन भारतीय परम्परा में) अपने अङ्गों को ढके हुए सब कार्य सम्हालती-करती रहती है वैसे आत्मोपलब्ध व्यक्ति अपनी असामान्यता को ढके हुए चलता है, उसके इश्तिहार नहीं लगाता फिरता; प्रचार-विज्ञापन नहीं करता; व्यापार नहीं करता।

यहाँ कह रहे हैं कि—] शान्त पुरुष को पहचानने का लक्षण है कि वह सुख-दुःख जानता ही नहीं।

तेवींचि क्षमेलागीं। पृथ्वीसि पवाडु आंगी।
सन्तोषा उत्सङ्गीं। दिधलें घर ॥१५०॥

पृथ्वी जिस प्रकार क्षमाशीला है—दण्ड देना जानती ही नहीं (इसीलिये पृथ्वी का एक नाम है 'क्षमा') वैसे ही भक्त का शील है क्षमा। और सन्तोष मानो बालक बनकर उनकी गोद में खेलता है। सन्तोष को रहने के लिये मानो घर बना दिया है अपना जीवन।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

वार्षियेवीण सागरु। जैसा जळें नित्य निर्भरु।
तैसा निरुपचारु। सन्तोषी जो ॥१५१॥

वर्षा के बिना सागर में कमी नहीं आती, न वर्षा से वहाँ बाढ़ आती है। नदियाँ वर्षा में बढ़ती और ग्रीष्म में सूखती हैं, सागर हमेशा एक जैसा रहता है; पूर्णिमा के दिन चन्द्र की ओर तरङ्ग-बाहु फैलाता है अवश्य, किन्तु अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। सागर वर्षा के बिना भी नित्य आत्मनिर्भर है। वर्षा द्वारा होने वाले जल-अभिषेक से सागर के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता; ऐसे ही भक्त शान्त व्यक्ति को बाह्य साधन मिलें या न मिलें उनके चित्त में नित्य आत्मनिर्भरता है, सन्तोष है, प्रसन्नता है। सागर में जल नित्य भरा रहता है, भक्त के चित्त में सन्तोष भरा रहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[अभी जिन 'गोपालदा'—श्रीकृष्णप्रेम (रोनाल्ड निक्सन) की बात कही थी, उन्हीं का और एक प्रसङ्ग स्मरण हो आया। एक बार मीरतोला (अल्मोड़ा) के अपने आश्रम उत्तर-वृन्दावन में बैठे थे; जाड़े की ऋतु थी। बाहर एक शिला पर बैठे थे। तभी काश्मीर के महाराजा मिलने आये। एक बड़ी सुन्दर पश्मीने की बहुमूल्य शाल लाये थे, आकर अपने गुरुदेव (गोपालदा) को ओढ़ा दी। गोपालदा बोले "बहुत सुन्दर नरम व कोमल शॉल है!" महाराजा चित्त में बहुत प्रसन्न हुए। इतने में गाँव की एक गरीब स्त्री उधर से निकली, साथ एक बच्चा था। दोनों सर्दी से ठिठुरते हुए सिकुड़ते हुए जा रहे थे। गोपालदा ने देखा, बुलाया और वही शाल उन्हें ओढ़ा दिया। यह देखकर महाराजा साहब के मुँह से हठात् "अरे! अरे!" शब्द निकल गया। बड़े प्रेम से वह अतिशय बहुमूल्य दुर्लभ शाल लाये थे। "पाँच मिनिट भी ओढ़ी नहीं और उस अनजान गँवार गरीब स्त्री को दे दी जो उसका महत्त्व कभी आँक नहीं सकती!"—ऐसा चित्त में आया होगा। गोपालदा मुस्कुरा कर बोले—"इसको गरम शाल की आवश्यकता मुझसे अधिक है। वस्त्र की उपयोगिता तो आवश्यकता में है न!" अहंभाव नहीं जागृत हुआ कि यह इतना सुखद-सुन्दर-दुर्लभ वस्त्र है इसे मैं रखूँ, और गरीब को देना है तो कुछ और मामूली मँगवा कर दे दूँ! यह है भक्ति। भक्ति को प्रतिपल जीवन में जीने का दृष्टान्त थे ये गोपालदा!

भक्त-सन्त का हृदय भरा रहता है सन्तोष से, कोई वस्तुओं से उपचारों से उन्हें सन्तोष-हर्ष नहीं दे सकता। वह तो नित्य ही आत्म सन्तुष्ट, निरुपचार, सदा प्रसन्नात्मा है।

[जो लोग सांसारिक वैभव की वस्तुओं या सम्पत्ति का दान लेकर दाता के प्रति विशेष प्रसन्न होते हैं वहाँ भक्ति का स्पर्श नहीं है, और उनकी महत्ता में कहीं कुछ कमी है—अभावबोध है—यह समझ लें।]

वाहूनि आपुली आण। धरी जो अन्तःकरण।
निश्चया साचपण। जयाचेनि ॥१५२॥

जीव-परमात्मा दोन्ही। बैसोनि ऐक्यासनीं।
जयाचां हृदयभुवनीं। विराजती ॥१५३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसा योग-समृद्धि। होऊनि जो निरवधि।
अर्पी मनोबुद्धि। माझ्या ठायीं ॥१५४॥

आंतुबाहेर योगु। निर्वाळलेयाहि चांगु।
तरि माझा अनुरागु। सप्रेम जया ॥१५५॥

अपने अन्तःकरण का ऐसा संयम वह व्यक्ति कर लेता है कि उसके मुख से जो शब्द निकले, उसकी बुद्धि में जो निश्चय या निर्णय हो जाय वह सिद्ध होकर रहता है। यदि किसी को जानना हो कि 'निश्चय' का अर्थ क्या है (जिसके लिये सन्तों ने गाया है—"निश्चय के महल में बसे मेरे प्रीतम") तो शान्ति-उपलब्ध ऐसे भक्त के जीवन को देखना चाहिये। अन्तःकरण का संयम जिसका शील बन गया है, अन्यथा शब्द जिसकी वाणी में से निकलता ही नहीं, उसकी केवल सङ्कल्पसिद्धि नहीं निर्णय-सिद्धि, निश्चयसिद्धि होती है।

जिसके जीवन में यह निश्चयसिद्धि हो गई है उसका और क्या लक्षण है? भक्तियोग जिनके जीवन में सिद्ध हुआ है ऐसे व्यक्ति के जीवन के लक्षण यहाँ कहे जा रहे हैं।

जीवदशा और परमात्मदशा दोनों वहाँ एक सिंहासन पर विराजते हैं। [शरीर-धर्मों की उपेक्षा नहीं है। शरीर रहते हुए जो 'मैं हूँ' का भाव है, वह नहीं रहता। शरीर को खिलाना-पिलाना-सुलाना है, परिधान पहनाने हैं, इनका पालन यथोचित रीति से उस व्यक्ति के जीवन में है। यह भक्त की बात चल रही है, जिसका परमात्मा के साथ भावसम्बन्ध अखण्ड है, ब्रह्मभाव सिद्ध हो चुका है; परमसत्ता का अनुसन्धान अखण्ड है। साथ ही, जिस देह के द्वारा जीवभाव प्रकट होता हो उसकी किसी प्रकार से उपेक्षा नहीं है।

लोगों ने मान लिया है कि भक्त को शरीर की परवाह नहीं होती, उसे कब खाना है क्या खाना है इसकी होश नहीं। एक प्रकार की मस्ती या उन्माद की दशा में वह रहता है। "जडोन्मत्तपिशाचवद् विहरति"—ऐसी हमारी धारणा है।

ज्ञानेश्वर योगेश्वर हैं और योगयोगेश्वर श्रीकृष्ण के प्रेमी हैं; इसलिये उनकी वाणी में भक्ति के स्वरूप में सन्तुलन की रम्यता एवं संवाद है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानेश्वर-वाणी में सन्तुलन का सूत्र कहीं छूटता नहीं। अध्यात्म में निषेध नहीं है, खण्डन नहीं है, कुछ छोड़ना या पकड़ना नहीं है। बस सत्य को समझना है, और समझे हुए सत्य के साथ अनुसन्धान रखकर जीना है।]

एक ही आसन पर जीव और परमात्मा दोनों बैठे हैं, या ऐक्य रूपी आसन पर ये दोनों साथ-साथ बैठे हैं। [सामान्यतया यह माना जाता है कि ब्रह्मभाव सिद्ध होने के बाद संसार का भान नहीं रहता। भक्ति के नाम पर ऐसी भानरहित अवस्था का बड़ा कौतुक (अहोभाव) किया जाता है। और वासुदेव कहते हैं—"समत्वं योग उच्यते" चित्त का समत्व बना रहे तभी योग कहलायेगा। उसी को भक्त के लक्षणों में भी विशद कर रहे हैं ज्ञानेश्वर महाराज।] भक्त के हृदयभवन में वे दोनों ऐक्य के सिंहासन पर विराजमान हैं। दोनों में कोई विरोध नहीं, संघर्ष नहीं। दोनों में एक प्रकार का संवाद है।

ऐसी योग की समृद्धि वहाँ रहती है। जीवभाव और शिवभाव दोनों में किसी प्रकार का तनाव नहीं, विरोध नहीं संघर्ष नहीं, समन्वय है। ऐसा साम्य जिसके चित्त में निरवधि निरन्तर रहता है, साथ ही जिसके मन-बुद्धि सतत मुझमें अर्पित रहते हैं, [प्रेमलक्षणा भक्ति का योगी के जीवन में क्या महत्त्व है यह समझा रहे हैं।] मन-बुद्धि-काया से व्यवहार तो करना पड़ता है, देह रहे तब तक दैनिक जीवन में खाना-पीना-बोलना सम्बन्धों में जीना, प्रश्नों को प्रतिसाद देना सभी कुछ करना पड़ता है। उस समस्त व्यवहार में भी मन-बुद्धि मुझ (परमात्मा) में समर्पित रहते हैं।

उनके भीतर-बाहर योग ही योग है। क्योंकि बाहर जो विषय हैं उनमें छिपे हुए नारायण के दर्शन होते हैं—"मेरे परमात्मा विषयाकार बनकर बैठे हैं" मिट्टी से घड़ा बना, उस घड़े में एक भी स्थान ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें मिट्टी नहीं है। तो चैतन्य से उत्पन्न हुई इस सृष्टि में क्या कोई ऐसा स्थान मिल सकता है जो चैतन्य से ओत-प्रोत न हो, पूरी सृष्टि के अणु-रेणु में प्रभु की ही सत्ता है न! इसलिए जब विषयों का सेवन करने का प्रसङ्ग आता है तब भी "हरिः ॐ तत् सत्" कहकर विषयों का ग्रहण करते हैं। देखते-पहचानते-समझते हैं कि समस्त जगत्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में जहाँ जो कुछ भी है वह ईश-तत्त्व से ओत-प्रोत है ईश का आवास है, ईश से ही अन्तर्बाह्य वासित है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन-भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

'ईशावास्य' होने के कारण यह वसुन्धरा भोग्या नहीं है, यह माता है—ऐसी दृष्टि बनती है। इसलिए बाहर जब विषयों को छुआ जाता है तो उनमें जो रस है वह परमात्मा का ही रस है यह प्रतीति होती है। इसलिए वहाँ भी योग है प्रभु के साथ। विषय-सेवन में भी प्रभु के साथ योग साधने वाले ये भक्त महावीर होते हैं। और भीतर तो योग है ही, क्योंकि चित्त प्रभु में लगा हुआ है, बुद्धि अनुसन्धान-रत है प्रभु सत्ता के साथ। चित्त उस स्पर्श का रस पा रहा है, और इन्द्रिय जहाँ भी जायें वहाँ प्रभु के ही दर्शन-स्पर्श-श्रवण आदि की प्रतीति होती है।

इस प्रकार भक्त का भीतर-बाहर नित्य-निरन्तर प्रक्षालन-स्नान ही चलता रहता है। रात-दिन में जितना बाह्य आचरण है वहाँ विषयों व प्रत्येक सम्बन्ध में प्रभु के ही स्पर्श-रस का आस्वादन पाने के कारण इन्द्रियों की मलिनता दूर होती है, और भीतर ग्यारहवाँ इन्द्रिय (मन) प्रभुप्रेम-रस में भीगा नहाया-धोया सुप्रसन्न रहता है। प्रत्येक इन्द्रिय का, प्रत्येक वृत्ति का अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रक्षालन होता रहता है। और उसके प्रत्येक व्यवहार में मेरे प्रति प्रेममय अनुराग प्रकट होता रहता है।

अर्जुना गा तो भक्तु। तोचि योगी तोचि मुक्तु।
तो वल्लभा मी कान्तु। ऐसा पढिये ॥१५६॥

ऐसी नित्य प्रेमलक्षणा योगावस्था जिसके जीवन में व्यक्त होती रहती है उसी को मैं 'भक्त' 'योगी' 'मुक्त' कहता हूँ। वह भक्त मेरी वल्लभा प्रिया है, मैं उनका कान्त हूँ। वही मेरा दुलारा-लाडला-प्रिय है।

[यह दोनों मित्रों में संवाद चल रहा है। भक्त और भगवान् में कोई अन्तर नहीं, श्रेष्ठ-कनिष्ठ नहीं है, सखाभाव है। वासुदेव अपना हृदय खोल कर अर्जुन के सामने रख रहे हैं।]

हें ना तो आवडे। मज जीवाचेनी पाडे।
हेही एथ थोडें। रूप करणें ॥१५७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतना ही नहीं; वह भक्त तो मुझे अपने प्राणों से भी-जीवन से भी अधिक प्रिय है। इतना कहने पर भी वह मुझे कितना प्रिय है यह पूरा कहा नहीं जाता। उस प्रेम का प्रियता का शब्दों में वर्णन करना मेरे लिये सम्भव नहीं है अर्जुन।

तरी पढियंतयाची कहाणी। हे भुलीचि भारणी।
इयें तंव न बोलणीं। परि बोलवी श्रद्धा ॥१५८॥

म्हणोनि गा आम्हां। वेगा आली उपमा।
सऱ्हीं काय प्रेमा। अनुवादु असे ॥१५९॥

[ज्ञानेश्वर महाराज, महाराष्ट्र में 'नेवासे' में एक शिवाले में बैठे यह भावार्थदीपिका कह रहे हैं, पूरे समाज के अग्रणी विद्वज्जन श्रोताओं में बैठे हैं। श्रीकृष्ण-अर्जुन-संवाद का वर्णन करते-करते ज्ञानेश्वर मानो उसी स्थिति में प्रत्यक्ष पहुँच गये हैं, भान भूल गये हैं—श्रीकृष्ण-मुख से बोल रहे हैं—]

अरे अर्जुन ! ये बातें क्या बोलने जैसी हैं ? कि वे भक्त मुझे प्रिया-वल्लभा-कान्ता जैसे प्रिय हैं, प्राणों से भी प्रिय हैं ··, अपनी प्रियतमा कितनी प्रिय है यह क्या बोल कर कहा जाता है ? यह कहने-बोलने की बात नहीं है रे ! पर क्या करूँ ? तेरी श्रद्धा-भक्ति मुझ से बुलवा रही है यह सब। तू सामने बैठा है न ! अपने प्यारों की कहानी ऐसी होती है कि उस में मनुष्य भान भूल जाता है। यह बोलना नहीं चाहिये, पर तेरी जो श्रद्धा है, तू सुनना-समझना चाहता है, इसलिये मैं बोलता हूँ।

प्रेम का अनुवाद शब्दों में नहीं हो सकता। लेकिन क्या करें ऐसी प्राणप्रिया की उपमा मेरे मुख से निकल गयी; वास्तव में यह विषय अनुवादातीत-शब्दातीत है।

आतां असो हें किरीटी। पैं प्रियाचिया गोष्टी।
दुणा थांव उठी। आवडो गा ॥१६०॥

तया ही वरी विपायें। प्रेमळ संवादिया होये।
तिये गोडीसि आहे। कटाळें मग ? ॥१६१॥

अपने प्रिय की बात करने बैठें, तब यदि अपने को रोकना चाहें तो और द्विगुणित होकर वह प्रेम शब्दों में उमड़ पड़ता है। उस पर से और बढ़कर स्थिति यह है कि तू सामने बैठा है। तुझ जैसा प्रिय ही जब सुनने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाला हो और सुनना चाह रहा हो, तो वाणी रुके कैसे ? तुझ जैसे भक्तों की ही तो बात मैं कह रहा हूँ न ! जब प्रिय की बात करनी हो और सुनने वाला प्रियजन ही हो तो वह प्रेम की एवं प्रिय की बात करने में जो माधुरी है उस से क्या कोई थकेगा ? प्यारे व्यक्ति से प्रेम की बातें करने में क्या कोई ऊबेगा ?

> म्हणोनि गा पाण्डुसुता । तूंचि प्रियु आणि तूंचि श्रोता ।
> वरी प्रियाची वार्ता । प्रसंगें आली ॥१६२॥

अरे पाण्डुसुत, क्या संयोग बना है कि तू ही मेरा प्रिय है, तूही प्रश्न करके मुझे बुलवाने वाला श्रोता बना है, और पूछ रहा है मेरे प्रियजन की बात ! प्रसङ्ग उठा है प्रिय की बात कहने का ! इसलिये बड़ी कठिनाई है ! मैं अपने आप को थाम नहीं पा रहा हूँ, बात बढ़ती जा रही है ।

> तरी आतां बोलों । भलें या मुखा मीनलों ।
> ऐसें म्हणतखेवो डोलों । लागले देवो ॥१६३॥
> मग म्हणे जाण । तया भक्ताचे लक्षण ।
> जया मी अन्तःकरण । बैसों घालीं ॥१६४॥

ऐसा कहते-कहते आनन्द में प्रभु झूमने डोलने लगे । प्रेमानन्द में झूमते-डोलते हुए ही कहने लगे—(तू ऐसे भक्तों के लक्षण जान ले जिनके बैठने के लिये मैं अपना अन्तःकरण बिछाता हूँ । [हम मानते हैं कि परमात्मा कोई भयस्थान हैं हम पर क्रुद्ध हो जायेंगे....पर मधुराद्वैत-प्रवर्तक सन्त-शिरोमणि ज्ञानेश्वर कहते हैं कि प्रभु के पास प्रेम के सिवा कुछ है ही नहीं । कृपा-अनुग्रह के सिवा कुछ है ही नहीं ।]

मेरा हृदय ही जिनके लिये आसन बना रखा है ऐसे मेरे प्रियतम भक्तों के लक्षण तुझे कहता हूँ, सुन ले !

अधिक क्या कहूँ पार्थ ! (एक दृष्टान्त और देख लो !) शरीर में इतने अवयव हैं, पर क्या शरीर को ये अवयव बोझ लगते हैं । अवयवों का समूह ही तो शरीर है । वैसे ही भक्त (की चेतना जुड़ी है सर्वाकार सर्वाधार बने बैठे प्रभु की एकमेव अद्वितीय सत्ता से, इसलिए वह—) देखता है कि मेरे प्रभु के ही तो अवयव हैं समस्त सचराचर सृष्टि में, सभी प्राणी और स्थान मेरे प्रभु के ही अवयव हैं; सारा जगत् मेरे प्रभु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की काया ही तो है ! यह सब प्रभु के ही उन्मेष हैं !—इसीलिए कितने भी प्रहार सहने पड़ें पर भक्त के चित्त में उनकी कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया उठती नहीं। [जिसको वैश्विक चेतना का स्पर्श हो जाता है, उसकी आँख में-दृष्टि में ही कुछ ऐसा मूलभूत परिवर्तन आ जाता है ('मैं' और 'मेरा' का भाव सर्वथा निर्मूल होकर) कि करुणा और प्रेम के सिवा वहाँ कुछ नहीं रहता। जगत् की अनेकरूपता-विचित्रता से वह ऊबता नहीं।

जगचि देह जाहलें। म्हणोनि प्रियाप्रिय गेलें।
हर्षामर्ष ठेले। दुजेनविण ॥१६८॥

ऐसा द्वन्द्वनिर्मुक्तु। भयोद्वेगरहितु।
याही वरि भक्तु। माझां ठायीं ॥१६९॥

तरि तयाचा गा मज मोहो। काय सांगों तो पढियावो।
हें असो जीवें जीवो। माझेनि तो ॥१७०॥

जो निजानन्दें धाला। परिणामु आयुष्या आला।
पूर्णते जाहला। वल्लभु जो ॥१७१॥

सारे विश्व के बारे में उसकी धारणा अपने ही देह जैसी हो गयी है। जैसे अपना शरीर प्रिय होता है वैसे सारा जगत् उसे प्रिय हो गया है। सारा जगत् मानो अपनी देह है ऐसे वह सब कुछ को देखता है। अपने शरीर के विभिन्न अवयवों में जैसे कोई प्रिय-अप्रिय नहीं होता, वैसे भक्त को जगत् में को कोई विशेष प्रिय और कोई अप्रिय नहीं होता। सभी कुछ प्रभु का निवासस्थान दिखाई देता है। बच्चे कभी उल्टी-सीधी बात कह देते हैं; अपमान करते हैं, नाराज़ होकर रूठ जाते हैं—पर माँ बाप उसे घर से तो नहीं निकाल देते ! अपनी सन्तान के विषय में इतनी प्रियता होती है, कोई अड़ोसी-पड़ोसी बच्चे के दोष दिखाने लगें तो भी माँ बच्चे का दुराव-छिपाव करके कहती है "नहीं मेरा बच्चा ऐसा नहीं कर सकता।" अपने देहज सन्तान के लिये जब ऐसा प्रियता का व्यवहार होता है तो जिसके लिये विश्व ही देह हो गया हो ! "पूरे विश्व से छोटा मेरा परिवार व घर नहीं" ऐसी जिसकी प्रतीति हो गयी है, वह किसी से कैसे ऊबेगा ? किसी से उद्वेग क्यों मानेगा ?

किन्तु वह मूर्ख-बुद्धू नहीं बनता। दुःख, अपमान को दुःख-अपमान ही समझता है। समझता सब है। The brain registers the facts as

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

they arc ! घटनाओं को समझने की कुशाग्रबुद्धि उसमें है। लेकिन उनके आगे एक लक्ष्मणरेखा है, वहाँ घायल होने के लिये अहङ्कार नहीं बैठा है, इसलिये बात समझ में आती है, प्रतिक्रिया नहों उठती। परिस्थिति के अनुकूल प्रतिसाद दिया जाता है, लेकिन प्रतिक्रिया नहीं उठती। इसलिये प्रियता-अप्रियता छूट जाती है।

आप देख सकते हैं कि जहाँ विषयों के प्रति मन की प्रियता-अप्रियता छूट जाती है, वहाँ द्वैत रहते हुए भी द्वन्द्व नहीं रहता !

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् !

द्वन्द्व तथ्य नहीं, द्वैत तथ्य है। द्वैत में तनाव पैदा करते हैं तब द्वन्द्व पैदा होता है। द्वन्द्व है द्वैत का पसारा, द्वैतभाव।

"द्वितीयाद् वै भयं भवति।"

जहाँ दूसरेपन का भाव उठेगा वहाँ या तो हर्ष पैदा होगा या अहर्ष, क्रोध व शोक पैदा होगा। भक्त के हृदय में से क्योंकि दूसरापन—द्वैत भाव ही मिट चुका है इसलिये वहाँ द्वन्द्व-सुख-दुःख की परस्पर विरोधिता और हर्ष-अमर्ष पैदा नहीं होते।

ऐसा जो द्वन्द्व-निर्मुक्त है, जिसके चित्त में लेशमात्र भी द्वन्द्व को सम्भावना नहीं, (द्वैत के तथ्य में से द्वन्द्व का निर्माण करना या न करना—इसकी शक्ति मनुष्य के चित्त में है। वह चाहे तो द्वैत को वरदान बना कर भक्ति के रंग में अपने को रंग ले या फिर द्वैत में से द्वन्द्व-भय-दुःख की शृंखला पैदा करे ! द्वन्द्व-निर्मुक्त होने के कारण जिसके चित्त में न भय रहा, न उद्वेग रहा; अतः जो भय-उद्वेग से रहित है।

यह होने पर भी मेरे (परमात्मा के) विषय में प्रेम वह छोड़ता नहीं। जहाँ-जहाँ मैं (विश्वरूप में) सगुण-साकार बना हूँ, नाम-रूप धारण करके सज-धज कर बैठा हूँ—उसके प्रति वह प्रेम व्यक्त करता है। 'जगत् मिथ्या' कह कर विश्वम्भर का जरा भी अपमान नहीं होने देता है। वह समझ पाता है कि यह (नानात्मक नाम-रूपमय जगत्) भी सत्य है और वह (एकमेवाद्वितीय नित्य शुद्ध निराकार अनाम ब्रह्म स्वरूप) भी सत्य है। एक सापेक्ष सत्य है एक निरपेक्ष सत्य है। दोनों प्रभु के ही रूप हैं, वन्दनीय हैं। उनके प्रति अनुराग प्रकट करना हो तो निर्गुण-निराकार सर्वव्यापी परमतत्त्व सत्तामात्र स्वरूप का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अखण्ड अनुसन्धान रहेगा और अनन्त नाम-रूप-गुण-लीला आदि के स्मरण-कीर्त्तन-चिन्तन के साथ-साथ जगत् की पदार्थों की विविधता-विचित्रता का समादर करते हुए आनन्दपूर्वक इनका दर्शन-स्पर्श-सेवन आदि होगा। अनेकों सम्बन्धों के अनुरूप भावों के द्वारा अनुराग प्रकट होगा। वस्तुओं का सन्मान, वनस्पतियों एवं नदी-पर्वत-सागर आदि समस्त निसर्ग का सन्मान, पशु-पक्षी-जलचर-कीट-पतग सभी प्राणियों के साथ यथोचित सन्मान व स्नेह भरा व्यवहार होगा।

भक्त के सामने जो-जो कुछ आता है वह आराध्य ही दिखता है। वह केवल मन्दिर में बैठकर विग्रह-प्रतिमा जी की ही पूजा नहीं करता। उन विग्रह-प्रतिमा को सर्वव्यापिनी सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में पहचानता है। सर्वाधिकार प्रभु के प्रति अपना अनुराग प्रत्येक सम्बन्ध-व्यवहार में व्यक्त करता है। किसी के प्रति उद्दण्ड नहीं, उपेक्षाभाव नहीं। भारत के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में सन्त-सुमन खिले हैं, उनकी जीवन-सुरभि से पावन है अपना इतिहास। उन जीवनचरितों को देखिये। कैसी ऋजुता-कोमलता एवं प्रेमपरिपूर्णता रही है सन्तों-भक्तों के जीवन में। किसी भी परिस्थिति में उनके प्रेम और उसकी सहज अभिव्यक्ति में कमी नहीं आती, विनम्रता छूटती नहीं।

कहो तो अर्जुन! ऐसे द्वन्द्वमुक्त, अन्तर्बाह्य उद्वेग रहित, फिर भी सगुण-साकार (विश्वाकार) के प्रेमी भक्त मुझे प्राणप्रिय क्यों न होंगे? सगुण प्रतिमाविग्रह ही नहीं—That which has imprisoned himself in the framework of space and time—वह जो देश-काल-वस्तु के रूप में असंख्य सीमाओं में आकर घास के तिनके मिट्टी के कण तक में अपना पूरा-पूरा ऐश्वर्य उँडेले हुए प्रकट हो रहा है—उसके इन सभी साकार-सगुण विग्रहों के प्रति सहज अनुराग व्यक्त होता है भक्त के प्रत्येक व्यवहार में। 'सगुण' शब्द की व्याप्ति समझ लें। रसिक व्यक्ति इस प्रकार समूचे सगुण से प्रेम सम्बन्ध बाँधता और जीता है। केवल जाननेभर से कृतार्थता नहीं होती, जाने हुए के साथ भावसम्बन्ध जोड़ा और जीया जाता है।

भक्त के जीवन में प्रभु के सम्पूर्ण सगुण साकार विग्रह के प्रति विशेष अनुराग प्रकट होता है, जो "वैरागी"—संन्यासियों के जीवन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में या कोरे कर्मकाण्डी लोगों के जीवन में व्यक्त नहीं होता, यह कहना है यहाँ।]

इसलिये मुझे बड़ा मोह है उन भक्तों का। मैं स्वयं मोहित हूँ उनके प्रति; इसलिये भक्त मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं। मैं उन भक्तों के कारण और उनके लिये ही जीवित हूँ। उनके कारण ही मेरा जोवन सार्थक है।

[मैं क्यों मुग्ध हूँ ? उनके ही लिये जीने में मेरा जीवन क्यों सार्थक है ? उसका निरूपण करते हैं—]

क्योंकि मेरा वह भक्त निजानन्द से सन्तृप्त परितृप्त आप्यायित है। उसने "निज में ही निज पद पा लिया है।" (स्थितप्रज्ञ-लक्षणों में भी कहा है—'**आत्मन्येवात्मना तुष्टः**" जो अपने आप से, अपने होनेपन से ही परितुष्ट है सन्तुष्ट है। जिसे अपने होनेपन से ही परितृप्ति है। वह न संसार से कुछ माँगता है न प्रभु से कुछ माँगता है। उनमें ही वस्तुतः आयुष्य (शरीर में जीने को अवधि रूपी अवसर) कृतार्थ है। आयुष्य की परम सार्थकता चरम परिणति उस जीवन में ही है जहाँ अपने आप में परिपूर्ण-तृप्ति का बोध व अनुभव हो, जो भक्तों के सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य जीवन में झलकती है। जिन्हें अपने बाहर से कुछ भी पाने की कामना है, अर्थात् किसी न किसी प्रकार का अभाव बोध है जो स्वयं अपने आप में सन्तुष्ट नहीं हैं—उनके जीवन में शरीर में से आयु गुज़रती जाती है, वह आयु व जीवन कृतार्थं नहीं होते। स्वयं जीवन को वहाँ कृतार्थता का अनुभव नहीं होता। The life itself does not feel fulfilled. और भक्त-योगी के तनु में स्वयं आयुष्य (जीवन काल) अपने आप को कृतार्थ हुआ मानता है, जीवन को अपनी कृतार्थता अनुभूत होती है।

मुक्ति जिन का वरण करे ऐसे तो लाखों होते हैं पार्थ ! लेकिन भक्त को तो स्वयं परिपूर्णता वरण करती है, वह परिपूर्णता का वल्लभ हो जाता है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को अपने पुरुषार्थ से सिद्ध कर लेने वाले अनेकों होते हैं लेकिन प्रत्येक मुक्त व्यक्ति भी परिपूर्ण नहीं होता। भक्ति पूर्णयोग है, पञ्चम व चरम पुरुषार्थ है। अन्य चार पुरुषार्थों को चाहने वाले और पाने वाले अनेकों होते हैं पर पूर्णता स्वयं जिन्हें चाहती है, स्वयं जिनका वरण करके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपना वल्लभ बनाती है ऐसे तो केवल 'भक्त' ही होते हैं। द्वन्द्वमुक्त, उद्वेग रहित, निजानन्द में परितृप्त-छके-अघाये-सन्तृप्त भक्तों का वरण करती है परिपूर्णता। (केवल मन से मुक्त होने भर में जीवन की पूर्णता नहीं है, संस्कार-मुक्ति में पूर्णता नहीं, उस से आगे बढ़ कर प्रेम जिये जाने में जीवन की कृतार्थता है। वैसे कृतार्थ व्यक्ति विरले ही होते हैं। अधिकतर लोग तो दान-पुण्य आदि धर्म-अर्थ (धन-वैभव) से सम्पन्न होने वाले भले कर्मों से, उनके फल से सन्तुष्ट होते हैं, कोई अभीष्ट सम्बन्ध पाने में इच्छाओं की पूर्ति में (काम-पूर्ति) में सन्तुष्ट हैं, कोई बहुत ही कम व्यक्ति इन तीनों से आगे बढ़ कर मुक्ति के पथ पर चलते हैं, मुक्ति पाने पर सन्तुष्ट होते हैं। लेकिन इन सबसे विलक्षण कोई विरल ही व्यक्ति "चारों पुरुषार्थों की सिद्धि अञ्जलि में लेकर भक्तिपन्थ पर बढ़ता चला जाता है, भक्ति-पन्थ प्रेम-पन्थ पर चलने, उसी में जीने में कृतार्थता अनुभव करता है उसे ही पूर्णता वरण करती है) वही मेरा प्रियतम है। [अर्थात् मेरी जो पूर्णता-अव्यङ्गता है उसे वही पाता है। योग से रहित ज्ञान सम्पूर्ण नहीं। ज्ञान-योग और प्रेमलक्षणा भक्ति— ये तीनों मिलकर 'पूर्णयोग' सिद्ध होता है।]

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जयाच्या ठायीं पाण्डवा। अपेक्षे नाहीं रिगावा।
सुखासि चढावा। जयाचें असणें ॥१७२॥
मोक्ष देउनि उदार। काशी होय कीर।
परि वेचे शरीर। तिये गांवीं ॥१७३॥

हे पाण्डव जिसके चित्त में अपेक्षा नाम का विष प्रवेश नहीं कर सकता; किसी के भी विषय में अपेक्षा रूप विष से जिसका चित्त दूषित नहीं होता; इसलिये जिसकी उपस्थिति ही सुख़ की अभिव्यक्ति बन जाती है। सुख को यदि नाथ-पन्थ के अनुसार देखना हो तो—'ख' यानी आकाश 'सु'—सुष्ठु अर्थात् अपने हृदयाकाश में सुन्दर रीति से जो प्रतिष्ठित हैं। जो आकाश में ही निवास करते हैं, आकाश में ही जिनका विहार चलता है। वे पार्थिवता की धरती पर नहीं उतरते कि मैंने ऐसा किया, इसका फल मुझे इतना मिलना चाहिये। वहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्तृत्व-भाव ही न होने के कारण यही वृत्ति रहती है कि इन्द्रियों के स्वभाव के कारण ये कर्म हो रहे हैं। जहाँ अपेक्षा रहती है वहाँ आशा-निराशा आती हैं। यहाँ कर्तापन नहीं, किसी फल की अपेक्षा नहीं, इसलिये आशा-निराशा नहीं, इसीलिये भय या उद्वेग भी नहीं। इसलिये जिसका होना (उपस्थिति) ही सुख का निवास स्थान बन जाता है।

ऐसी आकाश में स्थित रहने की दशा सामान्यतया किसी में सिद्ध नहीं हो पाती; अपने हृदयाकाश में दुःख से कष्ट से ही कोई जाता है। लेकिन ये मेरे प्रिय भक्त देह में रहते हुए भी विदेही रहते हैं, हृदयाकाश में मेरे साथ ही उनका निवास और विहार नित्य रहता है। इसलिये वे सदेह सुख-स्वरूप होते हैं। उनके चित्त में अपेक्षा को स्थान ही नहीं, वे सतत चिदाकाश में स्थित हैं। पृथिवी (स्थूलता) से चिपकी वृत्ति नहीं है; वे प्रवृत्त नहीं, निवृत्त भी नहीं, स्वधाम में स्वस्थ हैं। [इस दशा में श्रीज्ञानेश्वर महाराज जी गये हैं। यह भक्ति = पूर्णयोग कपोल कल्पना नहीं।]

कहा जाता है कि काशी बड़ी उदार है; लेकिन वह तो वहाँ मरने वालों को ही मोक्ष देती है न ! वहाँ रहकर जीने वालों को मोक्ष मिलेगा ही ऐसी कोई निश्चिति नहीं; लेकिन मेरे भक्त सशरीर काशीधाम हैं, उनकी सन्निधि में रहो, उनकी वाणी का सेवन करो, (केवल सह-अवस्थान नहीं) तो शरीर छोड़े बिना ही तुम मुक्त हो जाओगे। सन्त के सङ्ग का सेवन (भीतर लेना, पचाना) हो तो जीतेजी ही मुक्ति-दशा आ सकती है। इसलिये ये पूर्णता के वल्लभ काशी से भी बढ़कर हैं।

[यहाँ जो बातें ज्ञानेश्वर महाराज भक्त के लक्षणों के प्रसङ्ग में कह रहे हैं, उनके पीछे योग का विचार चित्त में उठने वाले मन के तरङ्गों-वृत्तियों का विचार बहुत गहराई में जाकर किया गया है। आज समाज में सामान्य रूप से यह माना जाता है कि भक्ति यानी केवल भावनावश किया हुआ व्यवहार। हठयोग के लिए वैज्ञानिक अभिगम-अभिक्रम अनिवार्य है, ज्ञान वस्तुनिष्ठ होने के साथ-साथ बुद्धिनिष्ठ होना चाहिए, लेकिन भक्ति को योग व विज्ञान दृष्टि से बहुत कम देखा जाता है। यहाँ जो एक-एक छटा खोलकर दिखाई जा रही है वह केवल कवि-प्रकृति का परिणाम नहीं, काव्य की दृष्टि से नहीं है, बल्कि चित्त की वृत्तियों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किस प्रकार परिवर्तन आता है और उस परिवर्तन के परिणाम इन्द्रिय गत व्यवहार पर किस प्रकार होते हैं, इसका वर्णन बहुत विस्तार से महाराज ने किया है। राजयोग का वर्णन नवें अध्याय में है, ज्ञान की पराकाष्ठा का वर्णन पन्द्रहवें अध्याय में करते हैं। यहाँ १२वें अध्याय में १६हों कलाओं से खिली है भक्ति की अवस्था। योगी होने के नाते मन व वृत्तियों के बारे में इतने विस्तार एवं गहराई में उतरकर यह सब कहा गया है।

कुछ दिन पहले हम दक्षिण अमेरिका में (चिली, सान्तियागो) थे, तब वहाँ के विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर (जैवविज्ञाननिकाय के प्रमुख (Dean of the faculty of biology) एवं वहाँ के बड़े वैज्ञानिक) मिलने आये थे। science and spirituality के सेमिनार में विषयप्रवेश कराने डॉ० उम्बेर्तो आये थे। उन्होंने Biology of cognition नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की है। उस विषय की बातें होने लगीं तो मुझे ज्ञानेश्वर महाराज बहुत याद आये। किसी भी वस्तु या पदार्थ को यथातथ्य जानने (cognition) का जो कर्म है। उसके पीछे संस्कारों की क्या भूमिका है? "How the chemistry of the body is programmed to indentify and recognize" इसका विचार उस ग्रन्थ में है।

मैं इसलिये यह बताना चाह रही हूँ कि महाराज जो कह रहे हैं उसका तथ्य हम पकड़ सकें, कहीं उनकी उपमा-उत्प्रेक्षाओं में हम खो न जायें, तभी हम ज्ञानेश्वरी के पठन से अपनेलिये कुछ सीख सकेंगे।]

हिमवन्तु दोष खाये। परि जीविताची हानि होये।
तैसें शुचित्व नोहे। सज्जनाचें ॥१७४॥

शुचित्वें शुचि गांग होये। आणि पापतापहि जाये।
परि तेथें आहे। बुडणें एक ॥१७५॥

खोलिये पारु नेणिजे। तरी भक्तीं न बुडिजे।
रोकडाचि लाहिजे। न मरतां मोक्षु ॥१७६॥

काशीक्षेत्र मोक्ष देने के लिये उदार है, पर वह शरीर लेकर मोक्ष देता है; काशी में शरीर छोड़ना रूपी कीमत देने पर ही मोक्ष मिलता है। देवतात्मा हिमालय भी सब दोष खा लेता है, वहाँ जाकर रहने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से सभी दोषों का परिहार होता है। लेकिन वहाँ चढ़ने में भी प्राण गँवाने की सम्भावना है। किन्तु मेरे भक्तों की शुचिता उस प्रकार की की नहीं। उनके पास जाने में वैसे खतरे नहीं जो काशी और हिमालय में हैं। सत् के जन=सज्जन का सङ्ग व सेवन करने में प्राणहानि का कोई भय नहीं है।

गङ्गा का जल बहुत शुचि है, वह त्रिविध तापों (मन वाणी के) पापों को हर लेता है, तापों का निवारण करता है, पापों का निराकरण करता है, लेकिन गङ्गा में उतरने में भी डूबनें का भय अवश्य है। मेरे भक्त का हृदय जितना गहन गम्भीर है उसका पार किसी को मिला नहीं, उसका दृष्टान्त भी दिया नहीं जा सकता; किन्तु उस भक्ति सागर के कल्लोल किसी को डुबा नहीं देते। भक्त के दशेन्द्रियों में से भक्ति प्रवाह उमड़ता ही रहता है लेकिन वहाँ किसी को डूबने का डर नहीं। फिर, यहाँ कोई सौदा या उधार की बात नहीं है कि आज भक्ति करो तो कल मोक्ष मिलेगा (जैसे काशी में शरीर छोड़ो तो मोक्ष मिलेगा) यहाँ तो हाथों हाथ नक़द मोक्ष मिलता है, माँगना भी नहीं पड़ता। न मरना पड़ता है, न कोई हानि उठानी पड़ती है, न डूबने का खतरा है, न माँगना ही पड़ता है। विना माँगे हाथों-हाथ नक़द मोक्ष मिलता है संत-भक्त के सङ्ग में।

सन्तां चेनि अंगलगें। पापानें जिणणें गंगें।
लेणें सन्तसङ्गें। शुचित्व कैसें ॥१७७॥

म्हणोनि असो जो ऐसा। शुचित्वें तीर्थां कुवाभा।
जेणें लंघविले दिशा। मनोमळ ॥१७८॥

गङ्गा जल में जो पापों का क्षय होता है वह शक्ति क्या गङ्गा में अपनी निजी है? नहीं, लाखों वर्षो से योगियों-सन्तों-भक्तों-महात्माजनों ने गङ्गा में स्नान किया है उन्होंने अपना शुचित्व गङ्गा को प्रदान किया है। सन्तों की काया के निकटतम स्पर्श के कारण गङ्गा के द्वारा पापों पर विजय होती है। ऐसे सन्त सङ्ग की शुचिता कैसी होगी तुम कल्पना करो पार्थ! अर्थात् आत्मानुभवी सन्त में शुचित्व की पराकाष्ठा है। उसका वर्णन कैसे करें?

इसलिये जो ऐसे भक्त हैं उनके स्पर्श से ही तीर्थ में तीर्थत्व आता है। तो, इन सन्तों-भक्तों में यह गङ्गा को शुचित्व देने और थतीं को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तीर्थ बनाने की क्षमता कहाँ से आयी ? जिनके सङ्ग से सर्वत्र शुचिता संक्रान्त हुई व होती है, उन सन्तों की शक्ति का रहस्य यह है कि उन्होंने अपने हृदय में एकमात्र मुझे बसा लिया है, मन-बुद्धि मुझे दे दिये हैं, अतः सभी मल उन्हें छोड़कर दसों दिशाओं के पार चले गये हैं। उनके आस-पास दसों दिशाओं में कहीं मनोमल रह नहीं सकते। (मल है अज्ञान, अज्ञान का कन्द है अहङ्कार, उस अहङ्कार को भक्त-चित्त ने निर्मूल होने दिया है; यह नहीं कि एक क्षेत्र से हटायें और दूसरे क्षेत्र में छिपा कर रखें) काया-वाणी-मन-बुद्धि के सभी क्षेत्रों में से मल को देश-निकाला दे दिया, सभी दिशाओं से बाहर निकाल डाला, मन के आस-पास के सभी क्षितिजों से निकाल डाला। सभी मल तो अज्ञान के कारण हैं। इस मूल मल का सर्वथा निराकरण किया, सतत जागृत रहे कि कहीं किसी दिशा से अज्ञान का प्रवेश तो नहीं हो रहा ? कहीं भीतर से अज्ञान की अभिव्यक्ति तो नहीं हो रही है ? अहं भाव की अभिव्यक्ति के मूल की ही निष्कृति उन्होंने कर दी है। इस प्रकार वे स्वयं शुचित्व हो गये हैं, उनकी पार्थिव देह भी दिव्य बन गयी है।

'गोविन्द' 'गोविन्द' का छन्द (व्यसन) मन को लग गया तो फिर काया भी 'गोविन्द'-रूप हो गयी, अब मेरा उससे भेद न रहा !''—सन्त तुकाराम ने गाया है।

'गो' इन्द्रिय को भी कहते हैं इन इन्द्रियों के स्वामी को ही नित्य स्मरण करने-सर्वत्र देखने का शौक हो गया, तो इन्द्रिय-मन-बुद्धि और सम्पूर्ण काया दिव्य हो जाती हैं। वही किया है भक्तों ने; अपने शरीर-वाणी-मन-बुद्धि में कहीं भी अज्ञान जन्य दोष रहने नहीं दिया। जहाँ नज़र पड़ी वहाँ से हटाते गये।

[अच्छी गृहिणी जैसे अपने घर में कहीं कूड़ा-करकट-धूल-गन्दगी रहने नहीं देती; यह नहो कि ऊपर से झाड़ा और दरी-गलीचे के नीचे दबा दिया; यदि घर से प्रेम हो तो गृहस्थ गृह को मन्दिर की तरह स्वच्छ शुचिर्भूत रखते हैं। उसी प्रकार भक्त अपने जीवन में कहीं किसी भी प्रकार का मल रहने नहीं देता। अन्दर का मल न रहे तो बाहर की गन्दगी सही नहीं जाती। उसे हटाकर सब सुन्दर स्वच्छ रखने की सहज वृत्ति रहती है।]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आंतुबाहेरि चोखाळु। सूर्यं तैसा उजाळु।
आणि तत्त्वार्थीचा पायाळु। देखणा जो ॥१७९॥

'चोखा' याने शुद्ध-उज्ज्वल सुवर्ण जैसा। भक्त भीतर-बाहर स्वच्छ रखते हैं, दोनों में सन्तुलन रखते हैं; क्योंकि सहज सन्तुलन आत्मा का स्वभाव है। इसलिए जिसे आत्मबोध हुआ उसके जीवन में सन्तुलन होगा ही। अन्दर ही खो गये वे भी भक्त नहीं, बाहर अटक गये वे भी भक्त नहीं।

भीतर-बाहर वे प्रक्षालित हैं। उनकी शुद्धि सूर्य जैसी है। सूर्यरश्मि स्वयं तो शुद्ध होती ही हैं, और जहाँ जाती हैं वहाँ जीवन, प्रकाश एवं उष्णता ले जाकर पावन करती हैं। धरती पर रहने वाले भक्त सब ओर शुद्धि ही संक्रान्त करते हैं, स्वयं शुद्धि के ही सजीव विग्रह होते हैं। भक्तों की उपस्थिति से ही शुद्धि, ऊष्मा, जीवन संक्रान्त होता है। मृत्यु में शरीर ठण्डा पड़ जाता है। ऊष्मा एवं प्रकाश जीवन के लक्षण हैं; भक्त आत्मज्ञान का प्रकाश देते हैं। ऊपर यानी इन्द्रिय-मन-वाणी के स्तर पर तो उस ज्ञान का प्रकाश फैलाते ही हैं, भीतर से इन सबकी जन्मभूमि अज्ञान को भी निरस्त कर देते हैं।

अज्ञान को समस्त जगत् का जन्मस्थान या भूमि कहा गया है और 'चारों वाणी (वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ती-परा) अविद्या का शृंगार हैं' ऐसा ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है। शब्द-मात्र अज्ञान-मूलक एवं अज्ञानजनक है, इसीलिए बन्धरूप है। शब्दबन्ध और कर्मबन्ध दो प्रकार के बन्धनों का वर्णन आता है। दोनों बन्धों का संयुक्तरूप है देह। पर भक्तों का अनुभव कुछ और ही होता है। सन्त तुकाराम कहते हैं—

"देह धरना होता वासना-सङ्ग से वासना ही हो गयी हरिरूप"
फिर वह वासनारूप भूमि और उससे उत्पन्न देहादि बन्धन क्यों होंगे ?

भूमि को खोदने से उसका रस-जलस्रोत निकलता है सुवर्ण आदि खनिज निकलते हैं। अज्ञान रूप भूमि को खोदने—अज्ञान की तहें खोलते जाने से, आखिर उसके भी अधिष्ठान परमतत्त्व-परमसत्ता का स्पर्श होता ही है। धरती का 'धन' पाने के लिये खोदते हैं तो मिट्टी का मोह नहीं रखते, जितनी मिट्टी निकलती है उसे दूर हटाते-निकालते जाते हैं। उसी प्रकार भक्ति में केवल अन्वय नहीं, अनावश्यक का व्यतिरेक भी होता है, इस ओर सङ्केत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अज्ञान रूपी पृथ्वी में जो 'तत्त्व' रूपी धन छिपा है उसको जिसकी नजर देख लेती है वह भक्त है। वहाँ भी शोधन कार्य चलता है; केवल शरीर-वाणी-मन-बुद्धि के स्तर पर शोधन नहीं। [इसीलिये विनोबाजी ने कहा था—"ब्रह्म सत्यं जगत् स्फूर्तिः, जीवनं सत्यशोधनम्"—उन्होंने पुरुषार्थ से 'परमतत्त्व' पाया था और उस तत्त्वोपलब्धि की परिणति उनके जीवन में हुई थी। उन्होंने कहा सत्य का शोधन (खोज पाना) ही जीवन है। अज्ञान व असत्य को खोदते-खोदते ही सत्य पाया जा सकेगा।] ज्ञानेश्वर कहते हैं भक्त तो तत्त्व को देखने वाला है। यहाँ मराठी 'देखना' के दो अर्थ हैं—एक दर्शनीय (सुन्दर) देखने लायक है, दूसरा—सूक्ष्म देखने की शक्ति जिसमें है वह। 'देखना' भी केवल ऊपरी आँखों से देखना नहीं। वह तो पशु भी देखता है। 'पश्यतीति पशुः' पर 'मननात् मनुष्यः' अतः देखने का स्थूल अर्थ न लीजिये। वह जो देखता है उसमें सूक्ष्म तत्त्व को देख लेता है। फल को देखते हैं तब आँख को छिलका ही दिखता है न! पर उस फल में छिलके के भीतर विद्यमान रस को जिसने देखा, वही फल को देखने वाला है। वैसे, अनेकता के छिलके में एकता का रस पड़ा हुआ है यह मेरे भक्तों ने देख लिया है। भीतर-बाहर प्रक्षालित होने के बाद अज्ञान कन्द का मल हटाकर उसके भीतर के तत्त्व को देख पाता है मेरा भक्त। इसलिये वह शुद्ध है और पावन है—शुद्धि संक्रान्त होती है उसकी उपस्थिति से।

[उनकी शुद्धि एवं पावनता का रहस्य समझेंगे तभी उनके दर्शन से शुद्धि संक्रान्त होगी। समझ कर दर्शन-प्रणाम-सेवन करेंगे तो वहाँ पहुँच सकेंगे जहाँ वे (सन्त, भक्त) पहुँचे हैं, जिस त्रिगुणातीत भावातीत दशा में रहते हैं वहाँ आप भी (कोई भी मनुष्य) पहुँच सकते हैं। बस भीतर-बाहर प्रक्षालन कर लो तो तत्त्व-अर्थ दीखेगा। शुद्धि के बिना प्रकाश नहीं होगा। Purification is the source of illumination शुद्धिकरण में ही सिद्धि है।

व्यापक आणि उदास। जैसें कां आकाश।
तैसें जयाचे मानस। सर्वत्र गा ॥१८०॥

संसार-व्यथें फिटला। जो नैराश्यें विनटला।
व्याधा हातोनि सुटला। विहंगमु जैसा ॥१८१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेरा वह योगी भक्त कैसा है ? आकाश—जैसा जो व्यापक है। (The emptiness contained in the space) यहाँ सर्वव्यापी आकाश तथा उसमें भरा हुआ सर्वधारक अवकाश दोनों अभिप्रेत हैं। आकाश जैसा जो व्यापक है और वैसा ही उदास (निर्लिप्त) भी है। वर्षा आती है तो उस जल को आकाश पकड़ नहीं रखता, उस से भींगता भी नहीं। ग्रीष्म की उष्णता आकाश में सोये वायु को झुलसाती है लेकिन उस उष्णता से आकाश रुष्ट नहीं होता, गरम भी नहीं हो जाता। सबको ठिठुरा देने वाले हेमन्त के शीत से भी आकाश स्वयं को बचा कर खींच नहीं लेता। शीत, उष्ण, वर्षा तीनों का समान रूप से स्वीकार है, कोई प्रिय-अप्रिय नहीं, किसी को बुलावा नहीं किसी को धिक्कार नहीं, निकाल-फेंकना नहीं।

न किसी को पकड़ना है न कुछ छोड़ना है न किसी से 'मुकर जाना' अस्वीकार करना है—यह 'उदास' होने का अर्थ है। उदासीनता का अर्थ 'त्याग' नहीं। वह तो एक छोर को पकड़ना हो गया। उदासीनता न भोगी के पास फटकती है न त्यागी के पास। 'त्यागी' को भान होता है (अभिमान भी होता है) कि 'मैंने त्याग किया''। भान बनाये रखें और वस्तुओं को छोड़ें तो वह बड़ी स्थूल क्रिया हुई। जो 'छोड़ता' है उसके भीतर से वह चीज़ें 'छूट' नहीं पाती। क्योंकि छोड़ने के अहङ्कार में ज़िन्दगी चली जाती है। क्या-क्या छोड़ा—इसकी गिनती ही करते रह जाते हैं वे लोग।

भक्त में आकाश जैसी व्याप्ति और साथ ही सच्ची उदासीनता भी होती है। अर्थात् उसका कहीं राग नहीं, द्वेष नहीं। क्योंकि उसके हृदय में है—सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप! जो गगन का भी प्रावरण है। "सत्य-ज्ञान-अनन्त! गगन का प्रावरण!" श्री निवृत्तिनाथ के अभंग (भजन) की पंक्ति है। गगन से भी विशाल परमतत्त्व से अभिन्न हो चुका है जिन का हृदय, उन्हें राग-द्वेषदि क्षुद्र सीमाओं का स्पर्श ही कैसे होगा? अन्य प्रकार से देखें तो 'सत्य-ज्ञान-अनन्त प्रभु ने गगन का प्रावरण (वस्त्र) धारण किया है। [गगन को ही वस्त्ररूप देखने की रसिकदृष्टि कैसी सूक्ष्म-वेधक है! वस्तुतः रसिकता ही वेधक तीक्ष्ण होती है, भोग में तो शिथिलता है।]

भक्त आकाश जैसा व्यापक और उदास है। वहाँ आसक्ति-अनासक्ति दोनों का प्रयोजन नहीं। उपभोग और विरक्ति दोनों के प्रयोजन जहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असङ्गत हो गये, यह व्याप्ति है। यहाँ व्याप्ति का अर्थ भौतिक-भौगोलिक व्याप्ति नहीं, ब्रह्मभाव-रूप व्याप्ति अभिप्रेत है। आकाश के लिये सर्वसमावेशक-व्यापक होना जितना सहज है, उतना ही मेरे योगी भक्त के लिये अखण्ड ब्रह्मभाव सहज है, उनका चित्त व समग्रजीवन परम शुद्ध-शुचिर्भूत है, उनमें नित्य सतत ब्रह्मात्मिका वृत्ति रहने के कारण व्यापकता है। वैश्विकी वृत्ति है, वैश्विकी दृष्टि है।

आकाश जैसा व्यापक एवं उदास (उत्-आसीन) है वैसा उसका मानस 'सर्वत्र' है। [शब्द को गम्भीरता से देख लीजियेगा। प्रवचन-आसन पर बैठ कर या सभा में गद्दी पर बैठ कर अध्यात्मचर्चा करना और ब्रह्माकारा वृत्ति रखना कोई कठिन नहीं, लेकिन घर में निजी जीवन के दैनिक व्यवहारों में, अपने कमरे में, अकेले रहते समय, अकेले में भोजन करते समय अपनी वृत्ति क्य: रहती है इसे देखें, परखें ! औरों की उपस्थिति हो तो उसी के दबाव से थोड़ा संयम आ जाता है। पर निपट अकेले रहते समय आप क्या सोचते है ? क्या करते हैं कैसे खाते-पीते-रहते हैं ? कितना सोते हैं ? कितनी स्वच्छता रखते हैं ?] भक्त की वृत्ति आठों प्रहर ब्रह्मात्मिका रहती है। कभी क्षुद्रता, क्षोभ, आसक्ति, राग-द्वेष उसे स्पर्श नहीं करते। वह न कहीं से विरक्त है न कहीं पर आसक्त है। सर्वत्र समान प्रेमभाव है। ऐसा भक्त का मानस सर्वदा रहता है। यह दुर्लभ है। सभी क्षेत्रों में से सभी क्षणों में से अहङ्कार व अज्ञान के मल निवृत्त हो जाने के क.रण वे सदा-सर्वदा-सर्वत्र अमल कमल सम रहते हैं।

[यह नहीं कि एक या कुछ क्षेत्रों में से कुछ समय के लिये आसक्ति हटायी और दूसरे क्षेत्र में लगा दी। हम ऐसा करके भ्रम पाले रहते हैं कि हम निरहङ्कार हैं।...... १९४०-४६ तक दादा धर्माधिकारी स्वातन्त्र्य संग्राम के अन्तर्गत कारागार में रहे। तब के अनुभव सुनाते हुए कहते थे बेटा ! जेल में कितने ही बड़े-बड़े लोगों की क्षुद्रता देखी है ज़रा-ज़रा-सी चीज़ों के बारे में ऐसा क्षुद्र आचरण देखा है जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती।]

संसार नाम की व्यथा से वे उसी तरह मुक्त हैं जैसे व्याध के हाथ से पक्षी छूट गया हो। संसार क्या ? नित्य परिवर्तनशील एवं जन्म-मरण का चक्र। उससे ये भक्त सर्वथा मुक्त हैं। क्यों ? (जैसा कि सन्त तुकाराम ने गाया है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"जन्म लेना होता वासना-सङ्ग से
वह वासना ही हुई हरिरूप सर्वथा"

जिस वासना के सङ्ग से जन्म लेना पड़ता है वह वासना ही सम्पूर्णतया हरिरूप हो गयी। (बीज भूनकर कर दी लाई! अब हमारा जन्म-मरण नहीं!) वासना का जो बीज था उसे हमने ज्ञान की अग्नि में भून डाला है, अब हमारा जन्म नहीं, मृत्यु नहीं संसार के सुख-दुःख की व्यथा नहीं। उस व्यथारूप संसार-चक्र से जो मुक्त हो गया जैसे व्याध के हाथ में से पंछी उड़ जाय। ऐसे भक्त का लक्षण क्या? संसार व्यथा से वह मुक्त है यह कैसे पहचानेंगे?

नैराश्य नामक अलङ्कार से जो अलङ्कृत है, सजा हुआ है। उसके शरीर पर, चित्तरूपी काया पर नैराश्य (किसी से कोई आशा-अपेक्षा न होना) सुशोभित है।

[हमारे शरीर के भीतर एक और काया है विचारों की; रूस में उस पर बहुत शोध-हुई है "Behind the iron curtain" नामक पुस्तक देखिये! Thoughtbody को देखा गया है, उसके हलन-चलन को देखने व चित्रित करने वाले 'कैमरे' भी बनाये गये हैं।] यहाँ नैराश्य शब्द का अर्थ अंग्रेजी से उलट कर न देखिये! यह Passivism या Passiveness नहीं, संस्कृत-व्युत्पत्ति से 'निराश' का अर्थ है—जिसके चित्त में से आशा का पाश सर्वथा निकल गया है—'निर्गता आशा यस्मात्' याने भूतकाल या भविष्य की ओर जिसकी नज़र जाती नहीं, भटकती नहीं, शुद्ध वर्तमान को देखने व उसी में पूरी तरह जीने वाला वह वीर पुरुष है।

"हरि का पन्थ तो शूरों का है जी,
कायर का नहीं काम यहाँ!"

वीर पुरुष के शब्दकोष में 'कल' है ही नहीं। उसकी नज़र आने वाले कल की ओर दौड़ती नहीं, और बीते हुए कल पर जाती नहीं। जो गया सो गया। आज जो नक़द सामने है, वर्तमान क्षण के अवगुण्ठन में सज-धज कर आयी हुई जो जीवन की शाश्वती-सनातनता है—उसी में अनुरक्त रहते हुए भक्त जीता है। अपूर्व प्रयोग किया है ज्ञानेश्वर महाराज ने कि जिसकी आन्तरकाया नैराश्यरूपी अलङ्कार से सुशोभित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"जिसने निवारे सभी आशा-पाश !
भक्त उसे जानो जो देह में उदास !"

जिसके चित्त में आशा-पाश की जड़ भी नहीं रही, वही देह के बारे में उदास यानी (उत्-आस) देह से ऊपर उठ कर बैठा हुआ होता है।

व्याध के हाथ से छूटा हुआ पक्षी जैसे प्रसन्न होगा वैसा वह सुख अनुभव करता है।

तैसा सतत जो सुखे। कोणीही टवंच न देखे।
नेणिजे गतायुषें। लज्जा जेवीं ॥१८२॥

आणि कर्मारम्भालागीं। जया अहंकृती नाहीं आंगीं।
जैसा निरिन्धन आगी। विझोनि जाय ॥१८३॥

जिसको देखने से पता चलता है कि वह सतत अखण्ड रूप से प्रसन्न है। कुछ भी कोई भी उसकी प्रसन्नता में विक्षेप नहीं डाल सकता। संसार की कोई भी घटना उसकी प्रसन्नता में खलबली नहीं ला सकती। प्रसन्नता का अर्थ हर्ष नहीं। हर्ष में उत्तेजना होती है। प्रसन्नता में गाम्भीर्य होता है। 'आकाश प्रसन्न है'—कहते हैं जब आकाश में कोई बादल नहीं होते; 'सरोवर प्रसन्न है' कहते हैं—'प्रसन्न-सलिला' नदी' कहते हैं—जब जल में कोई मैलापन नहीं होता, काई नहीं होती, ठहरा हुआ जल हो जो आर-पार स्वच्छ दिख रहा हो, जल में से नीचे का तल तक स्पष्ट दिखाई देता हो। इसी तरह प्रसन्न-चित्त वह है जिस चित्त में संसार की कोई घटना या संवेदनायें आवेग-उद्वेग-संवेग के बादल-काई-खलबली-क्षोभ-विक्षेप नहीं ला सकतीं।

अथवा आयु बीत जाने पर (प्राण शरीर में से निकल जाने पर) जैसे लज्जा नहीं रहती "निर्गता लज्जा यस्मात्" निर्लज्जता का प्रचलित अर्थ न लीजियेग। शव को भान नहीं होता कि मैं नग्न हूँ या मुझ पर वस्त्र है। वैसे जो अपने देहभान (दूसरों को मैं कैसा दिख रहा हूँ इस का भान) से अलग हो चुका है (self consciousness को जो लाँघ गया है; unconscious और transconcious में एक समानता है) मृत देह में जैसे लज्जा नहीं होती वैसे भक्त भी देहातीत हुए रहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[यह बात हमारी समझ में आयी जब प्रातः स्मरणीय श्री गोपीनाथ कविराजजी का सत्सङ्ग हुआ; प्रश्न उठा था कि नीतिशास्त्र किसके लिये बना है ? म० म० गोपीनाथ कविराज जी यानी ज्ञान का मूर्त रूप ! महान् ज्ञानी। ज्ञान की परिणति अपार करुणामय वात्सल्य में अनुपम सरलता में हुई उनमें साक्षात् दिखाई देती थी। जैसे माँ के शरीर में बालक के लिये रक्त में से दूध बनता है वैसे सच्चे ज्ञानी के तनु में वह ज्ञान करुणा में परिणत होकर सबके लिये बहने लगता है।.......

'बाबूजी' ने कहा—"देखो! नीतिशास्त्र पशु के लिये नहीं है, क्योंकि वहाँ स्वसंवेद्यता नहीं है और जो मन-बुद्धि को पार कर गये ऐसी जिन की चेतना है—निस्त्रैगुण्य (त्रिगुणातीत)—दशा में जो विराजमान है उन्हें भी नीतिशास्त्र लागू नहीं पड़ता (क्योंकि वहाँ नीति-सीमा की आवश्यकता ही नहीं रही)—इन दोनों के बीच में जो हैं, स्वसंवेद्यता एवं देहभान से घिरी हुई जिन की चेतना है उन के लिये नीतिशास्त्र है। पशु पर, मूर्छित पर, शवतुल्य शरीर होने पर नीतिशास्त्र लागू नहीं पड़ता और त्रिगुणातीत दशा में नीतिशास्त्र असंगत हो रहता है।—वह स्मरण हो आया। यहाँ महाराज कह रहे हैं—]

गतायुष्य जैसे लज्जा नहीं जानता वैसे मेरा भक्त सुख-दुःख नहीं जानता।

और कर्म का आरम्भ करने के लिये जिस की चेतना में अहङ्कार रहा नहीं। अहङ्कार हो तो सङ्कल्प हो कि 'अमुक मैं—अमुक फल के लिये यह कर्म करूँगा !' इन्धन न रहने पर (निरिन्धन—) अग्नि जैसे स्वयं शान्त हो जाता है, उस प्रकार भक्त के चित्त में अहङ्कार नाम का इन्धन न होने के कारण कर्म नाम का अग्नि वहाँ प्रज्ज्वलित नहीं होता, या बुझ जाता है। अहङ्कार हो तब तो कर्म का सङ्कल्प उठे ! वह वहाँ समूल नहीं है इसलिये सहज ही अनारम्भ है। "यह करूँगा, यह नहीं करूँगा" ऐसे सङ्कल्प, विकल्प भक्त के चित्त में उठते ही नहीं क्योंकि 'करने वाला' कर्ताभाव धारण करने वाला अहङ्कार वहाँ रहा ही नहीं। इसलिये अनारम्भ के लिये भक्त को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता जैसे निरिन्धन अग्नि को बुझाने के लिए कुछ भी उपाय नहीं करना पड़ता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"काया न दण्डिजे। मन न दमिजे।
लीलया संसार तरिजे। रया॥

कहा है ज्ञानेश्वर महाराज ने कि काया को दण्ड न दो, मन का दमन न करो, हँसते खेलते, द्वैत का स्वीकार करते हुए, द्वैत का उपयोग ही अद्वैत में जाने के लिये करो।

तैसा उपशमुचि भागा। जयासि आला पैं गा।
जो मोक्षाचिया आंगा। लिहिला असे॥१८४॥

अर्जुना हा ठावोवरी। जो अहंभावो सरोभरी।
द्वैताच्या पैलतीरीं। निगों बसला॥१८५॥

उस भक्त के जीवन में—मन में—शरीर में—पाँचों कोशों में, स्थूल-सूक्ष्म-कारण सभी शरीरों में उपशम यानी शान्ति है। मोक्ष-भवन का द्वार ही शान्ति है। वही भक्त के समस्त-अस्तित्व एवं व्यक्तित्व में सर्वाङ्ग में व्याप्त अङ्कित होने के कारण वह इस देह में रहते हुए भी द्वैत के उस पार निकल चुका हुआ है। [द्वैत में द्वन्द्व वह व्यक्ति पैदा करेगा जो द्वैत में अटका हुआ है। उसका व्यवहार द्वैत में दिखता है, लेकिन उसका चित्त द्वैत के उस पार रहता है; शान्ति के द्वार से वह मोक्ष-निवास में जा बसा हुआ है।]

[फिर से अर्जुन के चेहरे पर प्रश्न उभरा, कि मोक्ष में प्रतिष्ठित हो हो चुका हो तो वह भक्ति क्यों करता है? अर्जुन स्वयं ही प्रश्नात्मक होकर खड़े हैं। श्रीकृष्ण अनेक बार कह चुके हैं कि मेरा तत्त्व जान कर, स्वरूप पहचान कर, मुझसे अभिन्न होकर, सर्वथा मोक्ष में स्थित होकर भी भक्त मेरी सगुण भक्ति करते हैं। इस पर अर्जुन के चित्त का प्रश्न मुख पर उभरा है कि "मेरे स्वरूप में उसे प्रेम है, प्रेम के कारण वह मेरे नाम-रूप-गुण-लीला का गान-कीर्तन करने में आनन्दित होता है"—इसे खोल कर समझाइये। द्वैत के पार चला गया है, अद्वैत में स्थित है, तो फिर भक्ति कैसे?

कीं भक्ति सुखा लागीं। आपणपेंचि दोही भागीं।
वांटूनिया आंगीं। सेवकै बाणी॥१८६॥

येरा नाम मी ठेवी। मग भजती वोज बरवी।
न भजतयां दावी। योगिया जो॥१८७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तयाचे आम्हां व्यसन। आसुचें तो निजध्यान।
किं बहुना समाधान। तो मिळे तैं ॥१८८॥

हे अर्जुन अपने सुख के लिये हम क्या करते हैं? जलाशय में या दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। क्योंकि अपने आपको देखने में सुख प्रतीत होता है। मेरा भक्त आनन्द के लिये मेरा भजन करता है। वह कहता है कि मेरे प्रभु ने मुझे इस संसार में भेजा है, इतने सारे साधन दिये हैं तो मैं अपने प्रभुको—निजस्वरूप को, निजतत्त्व को देखूंगा। इसके लिये वह अपने आपको दो में बाँट लेता है। एक भोक्ता, दूसरा भोग्य, एक द्रष्टा दूसरा दृश्य। ऐसे अपने दो रूप बनाये बिना यह जो एकादश इन्द्रियों से मढ़ो हुई काया है इसका विनियोग कैसे हो? इनमें पड़ी हुई अनन्त प्रकार की ऊर्जाओं का उपयोग कैसे होगा? इस नित्यवृन्दावन रूपी मनुष्यदेह में जीवन द्वारा रास रमाने के लिये भक्त उत्साहित रहते हैं। "रास खेलते-खेलते हरि को भजते हुए यह मानव-जन्म का दुर्लभ अवसर वे आनन्द में बिताते हैं, देह मिली है, उसमें कुलालचक्र (कुम्हार के घुमाये हुए चक्के) जैसी गति भी भरी हुई है, उस प्रारब्ध का विनियोग करना ही होगा, कुछ भी किये बिना रह नहीं सकते ये तन-मन-बुद्धि। तो क्यों न इन गतियों को हरिभजन में लगाया जाय कि जब तक गति है तब तक आनन्द ही चहुँ ओर फैले और साथ ही भविष्य में जन्म-मरण की आग सदा के लिये बुझ जाय।

भक्त बड़े रसिक हैं, वे प्रभु की दी हुई एक-एक शक्ति का सुन्दर से सुन्दर उपयोग करते हैं। वे ज्ञानी जैसे रूखे-सूखे नहीं और हठयोगी जैसे कठोर भी नहीं। भक्त प्रेमी हैं, वे आनन्दमय जीवन की कला जानते हैं। इसीलिये भक्तों ने युक्ति की और अपनी सत्ता को दो रूप दे दिये। एक को नाम दे दिया 'भगवान्' और दूसरे को नाम दिया भक्त। फिर अपने 'भगवान्' को रिझाने लगे। अपने आप को नहला-धुला कर सुन्दर-स्वच्छ वस्त्रालङ्कारों से सजाने में सुख होता है न! वही 'भगवान्' रूप में अपनी सत्ता को सजाने-लाड़लड़ाने-रिझाने का नाम भक्ति है। वह प्रेम का आस्वादन है।

कोरे योगी, ज्ञानी आदि को अपने साधनमार्ग में कभी यह प्रेमानन्द अनुभव में नहीं आता। मेरे भक्त इस प्रकार अपनी सत्ता के दो रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बना कर सर्वेन्द्रियों से समग्र रूप से प्रेम का आनन्द प्रकट करते हुए उन योगी-ज्ञानियों को दिखाते हैं।

ऐसे परमयोगी भक्तों का मुझे व्यसन है, मैं स्वयं उनका ध्यान करता हूँ; या वे ही मेरा अपना 'ध्यान' अर्थात् प्रकट व्यक्त रूप हैं। ऐसे अपनी चेतना को मुझमें एकाकार किये हुए नित्ययुक्त अनन्य योगी भक्त जब मिलते हैं तभी मुझे समाधान होता है। केवल चैतन्यात्मक मिलन से मुझे सन्तोष नहीं होता इसलिये मैं रूप धारण करके भूतल पर आता हूँ। हमारे नरसी मेहता कहते हैं न!—"भूतल पर और तीनों लोक में भक्ति ही सबसे बढ़कर पदार्थ है।"—यहाँ ज्ञानेश्वर-मुख से भगवान कह रहे हैं कि—)

तयालागीं मज रूपा येणें। तयाचेनि मज एथें असणे।
तया लोण कीजे जीवें प्राणें। ऐसा पढ़िये ॥१८९॥

उस प्रेमसुख के आस्वादन के लिये मैं सगुण-साकार रूप धारण करके आ जाता हूँ। उन भक्तों के कारण ही तो मेरा अस्तित्व जगत् में जाना जाता है। वे ही पुकार-पुकार कर सबको बताते हैं कि "प्रभु हैं!" वे ही मेरे नाम-रूप-गुण-लीला गाते हैं, उस गान-कीर्तन स्मरण से होनेवाले आनन्द का सौरभ सर्वत्र फैलाते हैं, उस आनन्दधारा की संजीवनी सबको चखाते हैं। मैं बिका हुआ हूँ उन भक्तों के प्रति; क्योंकि वे मुझ अनामी को नाम देते हैं, अरूपी को रूप देते हैं, मैं निर्गुण-निराकार हूँ—वे मुझे सगुण-साकार बनाते हैं। इसलिये उनके ऊपर मैं अपने आपको न्योछावर करता हूँ। इतने वे मुझे प्रिय हैं।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो आत्मलाभा सारिखें। गोमटें काँहीचि न देखे।
म्हणोनि भोगविशेखें। हरिखे जे ना ॥१९०॥

आपणचि विश्व जाहला। तरि भेदभावो सहजचि गेला।
म्हणोनि द्वेषु ठेला। जया पुरुषा ॥१९१॥

पै आपुलें जें साचें। ते कल्पांन्तीं हीं न वचें।
हें जाणोनि गताचें। न शोची जो ॥१९२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह जो आत्मनिष्ठ प्रभु का प्रिय भक्त है उसका जीवन कैसा रहता है इसका थोड़ा निरूपण ज्ञाननाथ महाराज करते हैं—उसे आत्मलाभ-आत्मोपलब्धि जैसा सर्वाङ्गसुन्दर इस जीवन में कुछ भी दिखता नहीं है। [शब्दों द्वारा पहले आत्मज्ञान, शब्द जिस तरफ़ सङ्केत करते हैं उन सङ्केतों को समझने से आत्मबोध, आत्मबोध को इन्द्रियों द्वारा जीने लगें तब आत्मभाव और आत्मानन्द ऐसा एक सोपान है। शब्दों से जान लिया कि आत्मा क्या है ? लेकिन जीवन में उसकी वस्तुनिष्ठ पहचान यदि नहीं हुई, यानी जीवन में आत्मा क्या ? अनात्मा क्या ? इसकी पहचान नहीं हुई तो शाब्दिक ज्ञान के आगे व्यक्ति बढ़ता नहीं, इसलिये आत्मरति या आत्मानन्द तक पहुँचता नहीं। उस आत्मरति-आत्मभाव आत्मानन्द की अवस्था को आत्मलाभ कहा है।]

"हे श्याम सुन्दर तुम्हारा सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूप नित्य देखती रहूँ"—गोपी कहती हैं।

और कोई भी भोग-विशेष उसे वह आनन्द व हर्ष नहीं देता। अन्य किसी भी भोग-लाभ से भक्त हरखाता नहीं, हर्षानुभव नहीं करता। किन्हीं बाह्य सुख-साधनों की प्राप्ति से उसके चित्त में हर्ष का संवेदन उठता ही नहीं। क्योंकि सब से बड़ा लाभ है आत्मोपलब्धि वह ऐसी सर्वाङ्गसुन्दर है कि सर्वेन्द्रियों को उसकी सन्तृप्ति रहती है। इसका स्वाद चखे हुए योगी भक्त को संसार के कोई भी सुख-उपकरण भोग्य सामग्री या वैभवादि हर्ष नहीं दे सकते।

जहाँ हर्ष है उसकी छाया में विषाद व शोक पलता है। भक्त का चित्त आत्मानन्द से सन्तृप्त है इसलिये किसी बाह्य सुख की प्राप्ति, या प्राप्त सुख का वियोग होने से उसके चित्त में हर्ष या शोक के तरङ्ग नहीं उठते। (जहाँ द्वैत के एक बिन्दु का निर्देश होता है वहाँ दूसरे का अध्याहार समझ लेना चाहिये।)

यह सारा विश्व मैं ही हूँ, या मुझमें सारा विश्व समाया है, 'जो पिण्ड में है वह ब्रह्माण्ड में है, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है'—ऐसा नाथ सम्प्रदाय का सङ्केत है। उसे लौकिक भाषा में रख रहे हैं कि जो देखता है कि 'मैं ही विश्व हूँ' जो स्वयं ही विश्व-रूप हो गया; यह प्रतीति होने के कारण किसी भी प्रकार का भेदभाव उसके चित्त में नहीं है, इसलिये द्वेष नाम की भावना का स्पर्श वहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता नहीं। उसके चित में से द्वेष की सम्भावना ही निकल गयी—निःशेष हो गई है। वह अपना सच्चा स्वरूप त्रिकालाबाधित सत्य स्वरूप देखता है जिसका हरण काल भी नहीं कर सकता। प्रलय या कल्पान्त होने पर भी जो स्वरूप छिनता नहीं नष्ट नहीं होता, अपने से पृथक् नहीं हो जाता; मृत्यु में भी स्वरूप नहीं छिनता, यह वह समझता है इसलिये गत-आगत या अतीत-भविष्य की कोई चिन्ता उसके चित्त को छूती नहीं। हर्ष-शोक की उसके चित्त में सम्भावना ही नहीं है।

आणि जयापरौतें काहीं नाहीं। तें आपणपेंचि आपुल्याठायीं।
जाहला या लागीं जो काहीं। आकांक्षी ना ॥१९३॥

अपने स्वरूप में जो नहीं है उसका त्रैलोक्य में कहीं भी अस्तित्व नहीं है। अपने स्वरूप से पृथक् कहीं अन्य कुछ है ही नहीं—ऐसा बोध व प्रत्यय जिसके चित्त में है उसके लिए आकांक्षा के योग्य त्रैलोक्य में कुछ भी नहीं है। आकांक्षा होती है अप्राप्त की प्राप्ति के लिए। जो नहीं है वह पाने या बनने की आकांक्षा होती है (to obtain and to become) जब मुझसे इतर अन्य कहीं कुछ है हीं नहीं तो क्या पाने की आकांक्षा होगी? जीवन में बाहर-भीतर जो विविधता-विचित्रता—अनेकरूपता दिखती है उसकी स्रोतरूपा एकता का सूत्र तो मैं ही हूँ! यह प्रतीति होने के कारण उसे कुछ बनने की इच्छा नहीं कि "मैं कुछ बनूँ!"

[आप लोग कहते हैं कि आकांक्षा-महत्त्वाकांक्षा के बिना कर्म-प्रवृत्ति का प्रयोजक (insentive) कुछ नहीं होता है। सीखने के लिए प्रेरकतत्त्व है 'कुछ बनना!' किसी के समान बनना! इसके लिए किसी न किसी से तुलना करनी पड़ती है। पर भक्त तो पहचान जाते हैं कि यह जो कुछ भी है वह परमात्मसत्ता के धागे में पिरोये हुए परमात्मा के ही विविध रूप हैं, और परमात्मसत्ता ही मुझमें "आत्मसत्ता" में मेरे स्वरूप में ओत-प्रोत है। तो कहाँ से क्या पाना? किसके सदृश दिखने का प्रयत्न करना? किसे दिखाना? सब तरह से वह जानता है कि हम जो हैं उससे अलग कुछ बनने के लिए गुंजाइश नहीं है। तुलना की भी सम्भावना नहीं। इसलिए भक्त के चित्त में आकांक्षा नहीं उठती।]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वोखटें कां गोमटें । हें काहींचि तया नुमटे ।
रात्रिदिवस न घटे सूर्यासि जेवीं ॥१९४॥

भगवान् आदित्यनारायण-सूर्य-जानते नहीं कि कौन-सी रात है कौन सा दिन है ? ['दिन' और "रात" की भाषा हमारे-आपके लिए है। हमारी आँखें जब सूर्य को नहीं देख सकतीं, तब हम कहते हैं सूर्यास्त हो गया। १९७४ में हम उत्तरी-ध्रुव की यात्रा करने गये थे, वहाँ इन्हीं आँखों से देखा कि वस्तुतः सूर्योदय और सूर्यास्त हैं ही नहीं।] उसी प्रकार भक्त के चित्त में सुन्दर-असुन्दर का अन्तर भेद-भाव नहीं है। यह अच्छा है यह बुरा है—ऐसी किसी वृत्ति का स्फुरण उसके चित्त में नहीं है। किसी भी वस्तु या परिस्थिति के प्रति अच्छे-बुरे का भाव उसके चित्त में उठता नहीं। उसे सारा विश्व चैतन्यमय दीखता है, और जीवन की गति प्रारब्धवश हो रही है—यह भी उसे दीखता है। पूर्व कर्म के कारण लोग सुख में-दुःख में हैं यह भी उसे दीखता है। इसलिए लोगों के साथ के सम्बन्ध में उसके चित्त में यह भेदभाव नहीं उठता कि सज्जनों की प्रशंसा करूँ और दुर्जन की उपेक्षा करूँ। जो दुर्जन नज़र में आये उसके लिए और भी अधिक करुणा और प्यार उसके हृदय में उमड़ आता है।

ऐसा बोधुचि केवळु । जो होऊनि निष्कळु ।
त्याहीवरी भजनशीळु । माझ्या ठायीं ॥१९५॥

तरि तया ऐसें दुसरें । आम्हा पढ़ियन्तें सोयरें ।
नाही गा साचोकारें । तुझी आण ॥१९६॥

इस प्रकार जो केवल बोध-स्वरूप बन गया है, उसकी देहाकृति का उपादान वह बोध ही बन गया है। उसकी रग-रग नस-नस में आत्मबोध के सिवा कुछ भी शेष नहीं है। इतना शुद्धिकरण हो गया है; सब प्रकार की भ्रान्तियाँ चली गयी हैं। मोह का निरसन हो चुका, अपेक्षा-आकांक्षाओं का अस्त हो चुका। भेदभाव वहाँ प्रवेश नहीं कर सकता।

ऐसा निष्कल बोध उसका उपादान बन गया है 'सकल-अकल-निष्कल' ऐसी परिभाषायें हैं नाथसम्प्रदाय में। कलाओं में घटना-बढ़ना सम्भव है। चन्द्रमा की कलाये घटती-बढ़ती हैं। कलायें जहाँ रहेंगी वहाँ घटना बढ़ना उतार चढ़ाव—यह (स्वभाव रहेगा)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसी कलाओं की—घटने बढ़ने को—वृत्ति जहाँ विसर्जित है ऐसा निष्कलबोध है वह। उस में किन्तु-परन्तु, उदय-अस्त, अल्प-अधिक की संभावना नहीं है। ऐसा केवल निष्कल-बोधरूप ही वह (भक्त) हो रहता है। वह बोध न प्रकट होने के लिये आतुर है, न अपने आप को छिपाने के लिये तत्पर है। वह जैसा है, वैसा है। शुद्ध सत्ता-स्वरूप ही योगी-भक्त का जीवन रहता है।

[समस्त कलाओं का सम्पूर्ण समन्वय होते हुए भी कलातीत वह सत्ता है। बिन्दु से कलाओं का विकास-विलास फिर वापस बिन्दु में आकर स्थित होना—यह रहस्य समझना हो तो गोरक्षसंहिता से लेकर ज्ञानेश्वर महाराज के अमृतानुभव तक का नाथसम्प्रदाय का सिद्धान्त-वाङ्मय का अध्ययन करें। यहाँ कही गयी निष्कल-बोधरूप अवस्था वह समस्त कलाओं को समेट कर वापस बिन्दु में जाने की अवस्था का सङ्केत है। ऐसा बिन्दुमय हो जाना, जो कलाओं में बिखर कर खिलने वाला नहीं है।]

फिर भी अर्जुन! उस योगी भक्त का व्यवहार सम्पूर्ण विश्व के के साथ सख्यमय प्रेममय है, रूखा-सूखा नहीं। वे मेरे सगुण स्वरूप के भक्त हैं, उपासक हैं। इसलिये ओ प्यारे अर्जुन तेरी सौगन्ध! उन भक्तों के जैसा और कोई भी मुझे प्रिय नहीं है। इतने बड़े विश्व में मेरे सगे-सम्बन्धी बस वे मेरे भक्त ही हैं।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

पार्था जयांचां ठायीं। वैषम्याची वार्ता नाहीं।
रिपुमित्रां दोहीं। सरिसा पाडु ॥१९७॥

कां घरोचियाँ उजियेडु करावा। पारखियाँ आंधारु पाडावा।
हें नेणेचि गा पाण्डवा। दीपु जैसा ॥१९८॥

जो खांडावया झावो घाली। कां लावणी जयानें केली।
दोघां एकचि साऊली। वृक्ष दे जैसा ॥१९९॥

[इस अध्याय के ज्ञानकाण्ड की व्याख्या चल रही है। भक्त के जीवन में स्वयं भक्त की ओर से जो चर्या है उस का वर्णन अब तक के श्लोकों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में आया, अब समाज में उस की क्या स्थिति होती है उस दृष्टि बिन्दु से वर्णन हो रहा है।]

भक्त स्वयं सत्यनिष्ठ प्रेममय व्यवहार सबके प्रति करता है। लेकिन समाज में सभी तो भक्त नहीं होते। अधिकांश समाज को सत्याचरण करने वाले व्यक्ति चुभने लगते हैं। भक्त किसी से कुछ माँगते नहीं, किसी से लेन-देन नहीं रहता, अपनी भक्ति के आनन्द में मग्न रहते हुए सबका भला चाहते हैं और जो सामने आ पड़े वहाँ पूरी शक्ति एवं भाव से भला ही करते हैं, कभी किसी के सामने दीन नहीं बनते। यह देख कर लोगों को बड़ी ईर्ष्या होती है कि यह व्यक्ति इतना आत्मनिर्भर क्यों है? इसे कोई लोभ नहीं, इच्छा-आशा-अपेक्षा नहीं इसीलिये कभी दुःखी नहीं दिखाई देता, इसी से लोग उस से शत्रुत्व कर सकते हैं। ऐसे लोगों के द्वारा होने वाले व्यवहार में भक्त व्यक्ति कैसे जीता है, कैसे प्रतिसाद देता है?—यह विषय आयेगा।

उस के स्वयं के चित्त में तो केवल प्रभु का स्वरूप बसा है; निष्कल निर्विकल्प चित्त है उस का, लेकिन समाज तो किसी को नहीं छोड़ता। ज्ञानदेव के माता-पिता को पण्डितों ने देहान्त प्रायश्चित्त करने को कहा था; क्रमशः १२, १०, ८, ६ वर्ष के चारों बालकों (श्री निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ता) को छोड़ कर श्री विठ्ठल-रुक्मिणी (माता-पिता) चले गये और जल समाधि ले ली। तब भी वे पण्डित श्रीनिवृत्ति-ज्ञानदेव-सोपान को व्रतबन्ध (यज्ञोपवीत) देने के लिये तैयार नहीं हुए थे। भले ही बाद में उन का प्रभाव देख कर (किसी के मज़ाक में चुनौती देने पर भैंसें के मुँह से सस्वर वेदमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करा दिया देख कर) ब्राह्मणों ने इनके चरण छुए, किन्तु यज्ञोपवीत तो नहीं ही दिया। चारों भाई बहन गाँव के बाहर कुटिया बना कर रहते, भिक्षा माँग कर निर्वाह चलाते। कभी-कभी तो गाँव वाले भिक्षा भी नहीं देते थे। ऐसे भी अनेकों प्रसङ्ग आये। ऐसे ही एक बार रूठ गये थे ज्ञानेश्वर। ग्यारह वर्ष के थे, भिक्षा माँगने गये। छोटी बहन मुक्ता (७ वर्ष) झोंपड़ी में बैठी थी। किसी ने भिक्षा नहीं दी। वापस आये और क्षोभ में झोंपड़ी का दरवाज़ा बन्द कर के भीतर बैठ गये। तब मुक्ता समझाते हुए कहने लगी—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"विश्व बने यदि वह्नि तो सन्त बनें वहाँ पानी !"
कुण्डी खोलो जी ज्ञानेश्वर ! कुण्डी खोलो जी !

(ऐसे ६६ पंक्तियाँ कह दीं)। विश्व यदि आग बन जाये तो उस रोष-द्वेष-अज्ञान की आग को बुझाने के लिये सन्त को तो पानी बनना चाहिये न ! और तुम यहाँ रूठ कर बैठे हो ?

जब चौदह सौ वर्ष आयु वाले महायोगी चांगदेव शिष्यभाव से पास आये तब ज्ञानेश्वर ने कहा कि आप को दीक्षा और उपदेश देने का अधिकार मेरा नहीं; छोटी बहन मुक्ता को ही है, वही आपको उपदेश दे सकती है। और चाङ्गदेव मुक्ता के शिष्य हुए। यह बड़ा ही रोमहर्षक पर्व है उस जीवन का।..........

प्रसङ्ग यह था कि भक्तों को कष्ट देना—शत्रुता रखना समाज द्वारा होता ही रहा हैं। नरसी मेहता को क्या-या नहीं सहना पड़ा, मीरा को जहर दिया गया; प्रायः सभी भक्तों के जीवन में ऐसे कटु-प्रसङ्ग आते ही रहे हैं। समाज वैसा ही रहा—रामायण काल में, महाभारत-काल में, कलिकाल के प्रारम्भ से लेकर आज इस बीसवीं शताब्दी तक भी।

[इस समाज द्वारा अन्याय किये जाने पर भी भक्त के चित्त की निष्कलता एवं प्रेम में कोई न्यूनता या अन्तर नहीं आता यही इस श्लोक का विषय है—]

हे पार्थ ! भक्त के चित्त में कभी वैषम्य (विषम भाव) नहीं आता। उस के साथ कोई मित्रता का व्यवहार करता है और कोई अपने आपको शत्रु मानता हुआ शत्रुता का व्यवहार करता है, पर स्वयं भक्त का व्यवहार सब के प्रति समान होता है। [समाज में रहना है, भागना नहीं है, क्योंकि समाज-पराङ्मुखता में भक्ति नहीं हो सकती।] उनके चित्त में यह नहीं आता कि 'इस ने मेरी प्रशंसा की, यह भला है, और उस ने दुश्मनी का काम किया इस लिये वह मेरे पास नहीं रह सकता, अन्तेवासी नहीं बन सकता।

(कां घरीचियाँ ···) घर में दीपक जल रहा है; कोई लोग बाहर से घर में आये; तब क्या दीपक यह कहेगा कि जो घर में रहने वाले लोग हैं उन्हीं को प्रकाश दूंगा, बाहर से आये हुए पराये लोगों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाश नहीं दूँगा, उन्हें अन्धेरा ही करूँगा। ऐसा क्या दीपक करता है? ऐसा भेदभाव करना दीपक जानता ही नहीं।

(जो खाण्डावया.......) किसी ने बीज बोया, पोधा लगाया उसे सींच-सींच कर, सब आवश्यक परिश्रम करके वृक्ष बनाया। वह वृक्ष क्या उस अपने संरक्षक को ही छाया देता है? नहीं, वह तो कुल्हाड़ी मार कर शाखायें तोड़ने वाले व्यक्ति को भी छाया देता ही है। वृक्ष के तले जो भी आकर बैठे, उसे वृक्ष अपनी छाया का सुख समान रूप से ही देता है। जैसे वृक्ष यह नहीं देखता कि कौन मुझे सींचता-पालता-पोसता है और कौन मुझे तोड़ता-नोंचता है? उन दूसरों के व्यवहार के तौल से वृक्ष का व्यवहार नहीं बदलता; वैसे ही मेरे भक्त यह नहीं देखते कि कौन मेरा उपकार करता है और कौन अपकार करता है। दूसरों के व्यवहार से भक्त के चित्त में किसी भी प्रकार वैषम्य नहीं उठता।

नातरी इक्षु दण्डु। पाळितया गोडु।
गाळितया कडु। नोहेचि जेवी ॥२००॥

[मधुराद्वैत की परमावधि महाराज कह रहे हैं—]

ईख (गन्ना) यह नहीं करता कि उसे बोने पालने वाले किसान को तो मीठा रस दे और उसे काटकर पेर कर निचोड़ने वाले को कड़वा रस दे। उस गन्ने की भाँति मेरे भक्त का व्यवहार भी रिपु या मित्र के प्रति समान रूप से मधुर, प्रेममय ही होता है।

[केवल बाह्य व्यवहार-उपचार की बात नहीं है यहाँ; वह तो व्यापारियों के बिक्री-कर्मचारी (सेल्समेन) बहुत अच्छा मीठा व्यवहार करते हैं। यहाँ तो भक्त के चित्त के उन्मेष की बात है।]

अरिमित्रीं तैसा। अर्जुना जया भावो ऐसा।
मानापमानीं सरिसा। होतु जाय ॥२०१॥

अरि और मित्र के व्यवहारों के समय, अपमान या सम्मान के क्षणों में भक्त का व्यवहार समान ही होता है।

तिहीं ऋतूं समान। जैसे कां गगन।
तैसें एकचि मान। शीतोष्णीं जया ॥२०२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तीनों ऋतुओं में—वर्षा, शीत, ग्रीष्म—में गगन जैसे समान रहता है, भीगता नहीं, ठिठुरता नहीं, तपता नहीं, वैसे ही मानसिक विषमताओं-मान-अपमान, प्रिय-वियोग कष्टयोग आदि में तथा भौतिक प्राकृतिक द्वन्द्वों शीत-उष्ण, आरोग्य-व्याधि आदि में भी उसके चित्त की समता अक्षुण्ण रहती है, चित्त चलित नहीं होता।

दक्षिण उत्तर मारुता। मेरू जैसा पाण्डुसुता।
तैसा सुखदुःख प्राप्ता। मध्यस्थु जो ॥२०३॥

दक्षिण से और उत्तर से चलने वाले पवन के प्रति मध्यस्थ भाव लिये हुए जैसे मेरु पर्वत खड़ा है, किसी पवन वेग से वह डोलता नहीं, वैसा ही भक्त का चित्त है। [अद्‌भुत निरीक्षण है सृष्टि का, उसी में से उपमा-दृष्टान्तों की मालायें चली आती हैं महाराज की वाणी में] उसमें किसी के प्रति अनुकूल प्रतिकूल भाव नहीं उठता। सुख-दुःख की प्राप्ति से भक्त का मध्यस्थ भाव छूटता नहीं।

माधुर्यें चन्द्रिका। सरिसी राया रङ्का।
तैसा जीं सकळिकां। भूतां समु ॥२०४॥

चन्द्रिका ज्योत्स्ना राना या रङ्क सभी को समान भाव से नहलाती है। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना अपना माधुर्य सबके लिये समान रूप से बरसाती हैं, वहाँ राजा या रङ्क के लिये कोई वैषम्य नहीं होता। वैसा ही मेरे भक्त का भूतों प्राणियों एवं सृष्टि के प्रति सम व्यवहार होता है। [समदर्शन तक तो बहुत लोग चले जाते हैं कि एक ही आत्मा सब में व्याप्त है या एक ही परमात्मा ने सबको बनाया है। लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार व वर्ताव के समय वह समदर्शन काम में नहीं लिया जाता। यही संसारी व्यक्ति (भले ही बाहरी वेश व कर्मरूप से वह त्यागी, साधू, संन्यासी तक क्यों न हो,—) कोरे ज्ञानी और भक्त में अन्तर होवा है। जिससे कोई स्वार्थ सधने वाला हो, कोई पैसा, सुविधा, सुरक्षा मिलने वाली हो उससे हमारा एक प्रकार का व्यवहार है, उसके साथ बातचीत, बैठना-उठना, हँसना आदि मानो व्यापार में पूँजी (investment) की तरह लगाये जाते हैं। और जिससे कुछ भी नहीं मिलने वाला है या आपके द्वारा जिसे रोजी-रोटी-वेतन आदि मिलने वाला है उसके प्रति कैसा व्यवहार रहता है? अरे, किसको कितनी मुस्कान देनी है इसका भी हिसाब होता है। और अध्यात्म के नाम पर भी लोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिसाब लगाने बैठते हैं कि क्या कितना करने से फल क्या होगा? जीवन जीना हिसाबनवीसों का काम नहीं। और भक्ति तो उनसे कोसों दूर है।

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी बूड़न डरी रही किनारे बैठ॥

यहाँ भक्ति जीने वालों की बात चल रही है जिनका व्यवहार सकल भूतों (चर-अचर सम्पूर्ण सृष्टि) के प्रति सम होता है।]

आघविया जगा एक। सेव्य जैसें उदक।
तैसे तयातें तिन्हीं लोक। आकांक्षिती ॥२०५॥

ऐसे सङ्गविवर्जित सबके प्रति सम व्यवहार है, इसका परिणाम क्या देखने में आता है? वे भक्तजन सभी के लिए जल के समान सेव्य हो रहते हैं। पानी पूरे शरीर में कहीं भी स्पर्श करे, आँखों में भी जाय, तो कोई बुरा असर नहीं करता। कोई वार-प्रहार नहीं करता, भले ही बूँद-बूँद टपकते हुए कभी चट्टान को भी घिस दे; पर चोट नहीं पहुँचाता। वह पानी जैसे संसारभर के प्राणियों के लिए जीवनदाता एवं स्वच्छता-शीतलता देने वाला होने से सेव्य होता है; वह आक्रामक नहीं, संजीवक है, शामक है, शीतलता व शान्ति देता है, वैसा ही मेरा भक्त होता है। इसीलिए तीनों लोक (पानी की ही तरह) उसकी आकांक्षा करते हैं, उसके सान्निध्य व सङ्ग के लिए तरसते हैं।

जो सबाह्य संगु। सांडोनिया लागु।
एकाकी असे आंगु। आंगीं सूनी ॥२०६॥

जिसने सबाह्य सङ्ग छोड़ दिया है। अर्थात् बाहर-भीतर सब तरह से सङ्ग छोड़ दिया है। बाह्य पदार्थों का सङ्ग छूट गया। यहाँ 'सङ्ग' यानी आसक्ति, **"सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते"** इसका अनुसन्धान रखते हुए इसे देखियेगा। आत्मस्वरूप का परिचय होने के कारण उस व्यक्ति के चित्त में स्थूल पदार्थों का सङ्ग नहीं रहा, पञ्चमहाभूतों से बनी किसी भी स्थूल-सूक्ष्म वस्तु का सङ्ग नहीं रहा, किसी वृत्ति का भी सङ्ग नहीं रहा। ऐसे वास्तविक रीति से वह एकाकी बन गया है। मैं जैसे एक हूँ और अपने स्वरूप में रममाण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अपने आपमें ही खेलता हुआ आनन्दमय) हूँ, वैसे ही मेरा भक्त अन्तर्बाह्य सङ्गरहित होता है।

संसारी व्यक्ति भीतर-बाहर असंख्य सङ्गों में लिपटा-जकड़ा रहता है, जो बीत चुका उस भूतकाल की स्मृतियों का सङ्ग, जो नहीं हैं उसकी कल्पनाओं का सङ्ग, भविष्य के मनोरथों का सङ्ग, तरह-तरह की प्रवृत्तियों का सङ्ग, किसी कारण से प्रवृत्ति छोड़नी पड़ी हो तो 'निवृत्ति' रूप वृत्ति का ही सङ्ग पकड़े बैठते हैं। एकाकी उनसे रहा नहीं जाता। और भक्त सघन लोकसम्पर्क में रहते हुए मानवता के नाते अपेक्षित सब जनहितकार्य करते हुए भी अन्तरङ्ग में एकाकी विचरते हैं। उसी को कहा है—

"एषा ब्राह्मीस्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥"

उसी ब्राह्मी दशा की बात यहाँ चल रही है।

उसे किसी प्रकार का पाश नहीं रह गया है। वह कहीं भी जुड़ा हुआ नहीं है। न इन्द्रियों से जुड़ा है, न वृत्तियों से जुड़ा है, आकाश से भी जुड़ा नहीं है। गगन का प्रावरण भी जिस के लिये सीमा-रूप नहीं रहा, ऐसा नितान्त एकाकी व विशाल उस का सत्त्व एवं जीवनदशा है। निजसत्ता के एकान्त में सतत रहने वाला एकाकी है वह।

'एकाकी' शब्द का बड़ा गम्भीर अर्थ है यहाँ। दुनिया में तो 'अकेलापन' 'सूनापन' उसे कहते हैं जब भीतर बाहर सङ्ग की कामना है, बहुतों के साथ बिना रहा नहीं जाता और परिस्थिति उस कामना-अपेक्षा को पूरा होने देने में बाधक है। दूसरे की संगत की आकांक्षा, इच्छा चित्त में हो, भावनाओं के लिये आवश्यकता हो, भूख हो, और वह संगत मिले नहीं, तब मनुष्य "अकेलापन' महसूस करता है। उस अकेलेपन (lonlines) और भक्त की एकाकिता (aloneness) का फ़र्क़ समझ लेना चाहिये।

शरीर, इन्द्रिय, (प्रतीक रूप में १६१०८ गिनायी गयी) असंख्य वृत्तियों के बीच रहते हुए भी वह एकाकी है। इसलिये वह मुझे इतना प्रिय है; क्योंकि मैं भी एकाकी हूँ अर्जुन! विश्वाकार होने पर भी मेरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकाकिता ज़रा भी खण्डित नहीं हुई है। कार्यरूप धारण करने पर भी वह कारणरूप से अविकृत रहा है। यह वेदान्त का जो मूलभूत सिद्धान्त है उसे बड़ी चतुराई से महाराज यहाँ रख रहे हैं एकता-अनेकता बनी पर उस का प्रमाण बढ़ा नहीं, गुणवत्ता घटी नहीं, उसका आशय नहीं बदला, ब्रह्म स्वयं 'शबल' मिश्र या 'सङ्कर' नहीं हो गया; विवर्त्तवाद, परिणामवाद, मायावाद आदि के 'वादविवाद' से ऊपर सत्य का यथार्थ रूप प्रकट करते हुए ज्ञानदेव खड़े हैं।—]

सबाह्य सङ्ग छूटा यानी पंचमहाभूतात्मक शरीर में रहते हुए भी सभी स्थूल-सूक्ष्म स्तरों के अवरोधक श्लेषक (कहीं चिपकाने वाले) छूट गये, कहीं ममत्व नहीं, कहीं अहंभाव नहीं,—इसलिये वह मुझ जैसा एकाकी है।

The Devine aloneness, the non-divisible aloneness.

जहाँ "बिन्दु" किसी भी "कला" को धारण नहीं करेगा, ऐसी चैतन्यदशा में वह पहुँच गया है। अत्यन्त सुन्दर रीति से अपनी ही काया में, अपने अस्तित्व में सघन-सिमट गया है। उसकी साढ़े तीन हाथ की काया वैसी ही दिखती है, सब के लिये उपयोगी व्यवहार व कर्म भी चलते हैं पर वहाँ कोई 'करने वाला' 'मैं' रहा नहीं। उस काया में से सीधा चैतन्य ही प्रज्ञामय व्यवहार में प्रकट होता है और आत्मा में स्थित रहता है।

[विनोबाजी के पास तरह-तरह के लोग आते थे, भारतीय जन-सामान्य की आदत के अनुसार पूछते थे आप कौन हैं (जाति की दृष्टि से)? कहाँ के हैं? ब्राह्मणों में से भी कौन से हैं (महाराष्ट्री ब्राह्मणों में 'देशस्थ' 'कोंकणस्थ' ऐसे उपभेद हैं) विनोबाजी कहते—"मैं देशस्थ (देश में स्थित या रहने वाला) नहीं, कोंकणस्थ (कोंकण में रहने वाला) नहीं, मैं कायस्थ (काया में रहने वाला) भी नहीं; मैं तो आत्मस्थ (आत्मा में स्थित) हूँ।" आत्मस्थ की खुमारी में वे रहते भी थे। आत्मस्थ दशा में ही सारी उम्र जिये और ब्राह्मी स्थिति में जीना और मृत्यु को ब्रह्मनिर्वाण बनाना प्रत्यक्ष दिखा कर गये।]

सब अङ्गों (सङ्कल्प-विकल्प, कर्ता-भोक्ता भाव, विविध बहिर्गामी वृत्तियों) को अपने आप में ही समेट कर आत्मस्थ रहता हुआ भक्त मुझे बहुत प्रिय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केन चित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो निन्देतें नेघे। स्तुति न श्लाघे।
आकाशा न लगे। लेपु जैसा ॥२०७॥

तैसे निन्दे आणि स्तुति। मानु करूनि एके पांती।
विचरे प्राणवृत्ती। जनीं वनीं ॥२०८॥

कोई निन्दा करता है तो उसका वे स्वीकार नहीं करते, यानी उसे 'निन्दा' रूप में लेते ही नहीं। एक सन्त के पास कोई गया था, उसकी बहुत निन्दा की, चाहे जितना बुरा-बुरा कह डाला। सन्त ने निर्विकार भाव से सब सुन लिया, फिर शान्ति से उस व्यक्ति को कहा—"महाशय, यदि कोई किसी को कुछ दे, और वह व्यक्ति उसे न ले तो वह वापस उसी के पास आयेगी न! जो देना चाहता था। आप भी वही करेंगे न, लौटायी हुई वस्तु ले लेंगे न?" वह बोला "हाँ, लूँगा ही।" तब सन्त बोले—"तो अभी आधे घण्टे तक आपने जो कुछ कहा वह आपकी चीज़ वापस ले जाइये।"

निन्दा की स्वीकृति में से ही क्लेश पैदा होता है न! कि 'इसने मुझे इतना बुरा कहा, ऐसा मैं नहीं हूँ, फिर क्यों कहा?…"। यदि असत्य बात कही गयी हो तो उसे स्वीकार ही न करो, तब प्रतिवाद भी नहीं किया जायेगा। मिथ्या का प्रतिवाद करने में शक्ति क्यों खर्च करना! स्वीकार न करने जैसा कोई प्रतिकार नहीं है।

बड़े महत्त्व का शब्द है कि निन्दा को वह लेता ही नहीं। और स्तुति की श्लाघा नहीं करता। कोई स्तुति करे ऐसी इच्छा भी नहीं रखता, इसीलिये स्तुति करने वाले के प्रति प्रशंसावृत्ति भी नहीं रहती वहाँ। स्तुति की इच्छा-चित्त में रहती है तभी निन्दा से दुःख होता है। स्तुति की आकांक्षा में दूसरों द्वारा अपनी प्रशंसा, स्वीकार, पसन्द किया जाना, अनुकूल प्रतिसाद देना—यह सब आता है। 'कोई हमें पसन्द करे, हमारे बोलने-रहने-जीने की शैली की दाद दे। अरे कोई तुम्हारे बारे में अच्छा बोले या न बोले। प्रभु तुम से प्रसन्न हैं तब तो तुम्हें जीने देते हैं। प्रभु ने तो स्वीकार किया ही हुआ है। उनके स्वीकार को क्यों महत्त्व नहीं देते हैं? लेकिन मनुष्य दूसरों के मुख से अपनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्तुति सुनना चाहता है। किन्तु भक्त के चित्त में स्तुति की श्लाघा और निन्दा के लिये असहिष्णुता दोनों ही नहीं होती। स्तुति की इच्छा न रहना और अपनी निन्दा का भी तिरस्कार न रहना, बल्कि दोनों का ही चित्त में स्पर्श न होना—यह भक्ति की बहुत महत्त्व की फलश्रुति है। वह यदि हमारे चित्त में, जीवन में नहीं है तो हम भ्रम छोड़ दें, अपने आपको साधक, भक्त, ज्ञानी न माने ! अध्यात्म तो गणित जैसा विज्ञान है। २ में ३ जोड़ो और ५ नहीं बने—यह हो नहीं सकता। उसी प्रकार यदि वैराग्य हो और प्रभु से प्रेम हो, उनसे जुड़े रहने का अभ्यास हो तो उपर्युक्त निष्पत्ति (अपनी स्तुति-निन्दा से बेलाग रहना) होनी ही चाहिये। वह न हो तो समझ लेना चाहिये कि भक्ति के नाम से आत्म छलना है, आत्मप्रवञ्चना और जनप्रवञ्चना है।

भक्त कैसा रहता है ? आकाश जैसा निर्लेप उसका चित्त होता है। जैसे आकाश में कोई कभी किसी प्रकार का लेप (सुगन्ध, दुर्गन्ध या रंग आदि) नहीं लगा सकता वैसे भक्त के चित्त को स्तुति-निन्दा आदि का स्पर्श नहीं होता। वैसी आकाशवृत्ति और चैतसिक खेचरी मुद्रा में भक्त रहते हैं। स्थूल खेचरी मुद्रा की बात नहीं कह रही हूँ जो शरीर को खींच-तान कर जिह्वा का अग्रभाग-कोण काट कर हठयोग को प्रक्रिया से बनायी जाती है। 'ख' यानी आकाश में ही चरण या चर्या रहती है जिसकी वृत्ति की, उसे किसी स्थूल भावना का स्पर्श कैसे हो सकता है ? भक्त आकाशस्थ है। आत्मा के प्रावरण या आत्मा जिसका प्रावरण है उस गगन-मात्र पार्थिवता का आधार लिये जिसका चित्त टिका है। चित्त है क्योंकि देह है। चित्त आकाशस्थ है अर्थात् शून्यावस्था में, नित्य मौन में है। वह शून्य में मस्त है, एकाकी है। इसीलिये उसे निन्दा-स्तुति आदि का स्पर्श नहीं होता।

निन्दा और स्तुति को उसने एक ही पंक्ति में बैठा दिया है, स्वयं पृथक हो गया है, केवल प्राण-वृत्ति से रहता है। इसलिये योगी भक्त को देह के पूर्वप्रारब्धवश घोर जनसम्पर्क में रहना पड़े या विजनवास में, वन में रहने का भाग्य मिले, वह सर्वत्र केवल प्राणवृत्ति से एकाकी ही रहता है। एकान्तवास का सौभाग्य सबको नहीं मिल पाता। किन्तु जन में हो या वन में, भक्त का विचरण प्राणवृत्ति से होता है। वायु में विराजमान प्राणतत्त्व जिस प्रकार निःसंग होकर बाहर भीतर शुद्ध-

४

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अशुद्ध स्थानों में समानभाव से विचरता हुआ शरीर में आता और बाहर जाता रहता है, उस प्रकार भक्त व्यक्ति अपनी शुद्धता को, केवल बोधरूप अवस्था को, निष्कल अवस्था को अक्षुण्ण रखते हुए जन में या वन में विचरण करता है।

साचे लटिके दोन्ही। बोलोनि न बोले जाहला मौनी।
जे भोगिता उन्मनी। आराये ना ॥२०९॥

जो यथालाभे न तोखे। अलाभें न पारुखे।
पाऊसेवीण न सुके। समुद्र जैसा ॥२१०॥

आणि वायूसि एके ठाहीं। बिढार जैसे नाहीं।
तसी न धरीच केहीं। आश्रयो जों ॥२११॥

(साच यानी सत्य, लटिकें यानी झूठ, असत्य) जो मेरा भक्त है, उसे यह आग्रह नहीं कि मैं जो कुछ सत्य समझा हूँ उसे सबके सामने रखूँ। सत्य को शब्द द्वारा अभिव्यक्त करने का आग्रह नहीं। योगी भक्त के सङ्कल्प तक 'कैसे सिद्ध होते हैं यानी मुख से कहा गया शब्द ही नहीं भीतर चित्त में आया हुआ विचार तक सत्य ही प्रमाणित होता है इसे लोगों के सामने दिखाने की उनके मन में इच्छा नहीं होती। और मिथ्या का बोध किस प्रकार हुआ है यह भी प्रतिपादित करने की इच्छा नहीं होती। सच और झूठ दोनों के प्रति वह मौन हो चुका होता है।

मौन का अर्थ यहाँ केवल कायिक-वाचिक मौन नहीं है। साधक को काया एवं वाणी के मौन का अभ्यास तो करना ही होता है। सामान्य दशा में यह कायिक-वाचिक वैखरी का मौन भी प्रायः दुष्कर लगता है ऐसा देखा गया है। वाणी को शब्दोच्चार न करना हो और काया को पूरी तरह एकान्त मौन का अवसर दे दिया जाय तो सामान्य संसारी व्यक्ति का जी अकुलाने छटपटाने लगना है। व्यसन है मनुष्य को शब्द बोलने का, शब्द सुनने का, अपने भीतर उमड़ने वाली वृत्तियों को व्यक्त करने का। आँखें कोई रूप न देखें तो विकल हो जाती हैं। वाणी से बोलना न हो तो अकुलाहट होती है, सभी इन्द्रियों से क्रिया-प्रतिक्रिया के आघात लेते रहने का जबर्दस्त व्यसन है कि उस के बिना रहा नहीं जाता। कभी बाह्य मौन सेवन तो कर के देखिये! बाह्य से ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भीतर गति होगी। लेकिन यहाँ केवल उस बाह्य मौन से तात्पर्य नहीं। उस से आगे की आन्तरिक चैतसिक स्थिति यहाँ अभिप्रेत है। योगी-भक्त की स्थिति का शब्दों में सङ्केत हो रहा है। महाराज कह रहे हैं कि भक्त के चित्त में आग्रह या इच्छा नहीं होती कि उसे जो बोध एवं अनुभव हुआ है, उसे सबके सामने (अपनी महत्ता प्रकाशित करने के हेतु से या, उस अनुभव का आनन्द सँभाला न जाने के कारण) वाणी द्वारा या अङ्गभङ्गी के द्वारा व्यक्त करे। निवेदन का भी आग्रह नहीं है तो प्रतिपादन का आग्रह कहाँ से होगा? और जब कभी प्रसङ्गवश सत्यकथन हो रहा है, तब "मैं यह सत्य कह रहा हूँ"—यह अभिनिवेश नहीं। अभिव्यक्ति की, निवेदन की, प्रतिपादन की इच्छा नहीं है—यह गर्भ है मौन का। और यदि प्रसङ्गवश बोलना हो भी तो चित्त में सङ्कल्प नहीं, आग्रह नहीं, अभिनिवेश नहीं, प्रतिपादन का भाव नहीं, क्योंकि किसी भी स्तर से अहंकर्तृत्व—"मैं यह सत्य कह रहा हूँ या मिथ्या का बोध करा रहा हूँ"—ऐसा कर्ताभाव वहाँ चित्त में क़तई नहीं। इसीलिये प्रसङ्गवश बोलने पर भी उसका मौन टूटता नहीं, बोलते हुए भी वह वस्तुतः मौनी है, मौनावस्था में प्रतिष्ठित है। वैखरी के द्वार पर आ कर खड़े हैं या वैखरी के आँगन में कार्य कर रहे हैं फिर भी समाधि टूटती नहीं, अखण्ड मौन योग बना ही हुआ है। सङ्कल्प-विकल्पों से मुक्त अन्तर्वाह्य निर्मल-अमल वाणी गङ्गाजल जैसी होती है; संकल्प आदि मिट्टी का स्पर्श नहीं उसमें।

श्रीमद्‌राजचन्द्र ने कहा है—"आत्मज्ञान त्यां मुनिपणु" (जहाँ आत्मज्ञान है वहीं मुनिदशा—मौनावस्था है। बाह्य मौन से प्रारम्भ करो, लेकिन बाह्य मौन पर रुक न जाओ। केवल जिह्वा का मौन लेकर हाव-भाव और इशारों से बातें करते रहना तो बाह्य मौन भी नहीं है; क्योंकि भीतर तो शब्द कुलबुला रहे हैं। वह तो मौन का तमाशा, आडम्बर मात्र होता है।) यहाँ ज्ञानेश्वर महाराज संकेत कर रहे हैं कि मौनी किसे कहा जा सकता है।

मौन जिसका शील बन गया वह मुनि है। संकल्प-विकल्पातीत अवस्था में जो मानवीय सम्बन्धों में जीता है वह मौनी है, वही मुनि है। आपके गणितशास्त्र में या पदार्थ विज्ञान में जैसे एक सुरेखा-विशदता-सुस्पष्टता है वैसे यहाँ अध्यात्म में एक सुनिश्चित सुरेखता है। तीन और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चार मिलाने पर सात ही बनते हैं—पौने या सवा सात नहीं होते। वैसे अध्यात्म में निश्चिति है कि वस्तुतः मौन क्या है ? और उस मौनावस्था में निवास होने पर चित्त के साथ, शरीर के दैनिक व्यवहार के साथ, दिनचर्या के साथ, जीने और मरने के साथ क्या होगा—यह सुनिश्चित है। उसी का सुरेख चित्र हमारे सामने कविराज-ज्ञानेश्वर रख रहे हैं।

वह मौनी हो गया है, उसके चित्त में संकल्प-विकल्प उठते ही नहीं, तो क्या वहाँ शून्य है ? नहीं। वह तो उस मौन-संकल्प-विकल्पमुक्त-अवस्था में जो एक विशेष आनन्दानुभव है उस आनन्द में सराबोर है। वह उन्मनी का आनन्द है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों को लाँघकर वह तुरीयावस्था में, ब्राह्मी स्थिति में पहुँच गया है। कर्त्ता-भोक्ता-द्रष्टा तीनों भावों को लाँघकर वह उन्मनी में बैठा हुआ है।

"उन्मनी का लावण्य, तुरीया का तारुण्य।
अनादि अगण्य, जो परम तत्त्व॥"

—ज्ञाननाथ महाराज ने एक जगह कहा है। त्रिपुरारहस्य अष्टावक्र-संहिता, अष्टावक्रगीता का जिन्होंने अध्ययन किया होगा—उन्होंने देखा होगा त्रिपुराशक्ति चिरषोडशी है। वहाँ षोडशीपूजा का अर्थ कोई स्थूल षोडशवर्षीया तरुणी कन्या का पूजन करना नहीं है। उन्मनी अवस्था ही चिरषोडशी है। उसे स्पर्श नहीं है किसी प्रकार के विकार का, न जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति का वहाँ स्पर्श है। वह तो अनादि-अगण्य परम तत्त्व के संस्पर्श से पुनीत है, ऐसी उन्मनी अवस्था में भक्त रहता है। इसलिए उसके चित्त में संकल्प-विकल्प का अवकाश ही नहीं।

"यहाँ दम-दम पे होती है पूजा,
सिर झुकाने की फ़ुरसत नहीं है!
यहाँ सर देकर होते हैं सौदे,
आशिकी इतनी सस्ती नहीं है!
ये भक्ति की बातें हैं ऊधो!
बन्दगी तेरे बस की नहीं है!"

एक-एक श्वास लेना, उच्छ्वास का विसर्जन करना यह महापूजा यहाँ प्रतिक्षण चलती है—श्वास जहाँ से आता है, जहाँ विसर्जित होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, उस तत्त्व का अनुसन्धान प्रतिक्षण बना रहता है, इसलिए सिर झुकाने जितने बाह्याङ्ग-पूजन का भी अतिरिक्त अवसर मिलता नहीं।--वृन्दावन में रहने वाले एक मुसलमान कृष्ण भक्त की यह रचना है। गोपियों की ओर से उद्धव को कह रहे हैं कि ऊधो ! बन्दगी तेरे वश की बात नहीं, तेरे चित्त को तो विद्वत्ता का लाञ्छन लगा हुआ है। तू शब्दों के शब्द कोश वाले अर्थ को छोड़ नहीं सकता, उनके अन्तर्निहित भाव को धारण नहीं कर सकता। भावजल से अपनी इन्द्रियों को प्रक्षालित नहीं कर सकता; तू भक्ति क्या जाने रे उद्धव !.........]

सङ्कल्प-विकल्प-रहित अवस्था भक्त को ले गयी है ब्राह्मी अवस्था तक। उसका मन हो उन्मन हो गया है। [यह है "Descent of the Supramental is (=) ascendence of matter" दोनों में अन्तर नहीं, एक ही दूसरे में बदल जाता है।]

प्रारब्धवश कुछ प्राप्त हो गया—तो उससे वह विशेष तुष्ट नहीं हो जाता, और कुछ नहीं हुआ तो किसी प्रकार की खिन्नता उसके चित्त में नहीं उठती जैसे पावस (वर्षा) न हो तो समुद्र सूखता नहीं और नदियों के जल से समुद्र में बाढ़ नहीं आती। वैसे भक्त को बाहर से कुछ प्राप्त न हो तो वह खिन्न, उदास नहीं होता; अभाव का ख्याल आवे तब तो मनुष्य को खेद होगा ! लाभ या अलाभ की भावना उठे तब तो हर्ष या शोक या इच्छा-स्पृहा होना सम्भव है ! भक्त के चित्त में लाभ-अलाभ की भाषा ही नहीं होती। जो परमधन (राम-रतन धन) है वह पा चुका है। "खरचे न खूटे वा को चोर न लूटे"—ऐसा धन वह पा चुका है इसलिये भक्त को लाभ क्या और अलाभ क्या ? समुद्र न वर्षा की प्रतीक्षा करता है न वर्षा आने पर विशेष प्रसन्न होता है वैसे जो उन्मनी का आनन्द भोगते हुए कभी थकता नहीं ऐसे योगी-भक्त के लिये संसार के लाभ-अलाभ की भाषा असङ्गत होती है।

और, जैसे वायु का निवासस्थान आकाश है, विराट् आकाश के सिवा कोई दूसरा अपना घर पवन ने नहीं बनाया। किसी एक विशिष्ट स्थान को वायु ने 'इदं मम' कह कर अपना घर नहीं माना। मलय चन्दन का पर्वत हो या कोई दुर्गन्ध वाला स्थान हो वायु कभी कहीं रुकता, ठहरता नहीं।—उसी प्रकार भक्त 'अनिकेत' होता है; 'यह मेरा घर है'—ऐसी भावना उसके चित्त में नहीं होती : सारे विश्व के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिये उनका भाव समान है; प्रारब्धवश वे जहां भी हों वहीं 'अपना निवास' देखते हैं। विश्व से छोटा निवास नहीं उनका।

निवास की भाषा भी बोलनी पड़ती है क्योंकि देह में उतर आये हैं। देह में चैतन्य का अवतरण हुआ है, और देह को आश्रय चाहिये; सिर पर छप्पर चाहिये, पहनने के लिये वस्त्र चाहिये, शरीरधारण के लिये भोजन चाहिये। ये सब आपद्धर्म हैं, स्वधर्म नहीं। पर भक्त के चित्त में 'अपना घर' कहने के लिये किन्हीं दीवारों की कल्पना नहीं, सम्पूर्ण विश्व ही उसको अपना दिखता है। उसका चित्त सीमाओं-सङ्कीर्णताओं से घिरा नहीं, असीम में रहता है।

भक्त का चित्त किसी स्थान-विशेष, कालविशेष या वस्तु या व्यक्ति विशेष के लिये 'यह मेरा है'—ऐसा भाव धारण नहीं करता। "यह मेरा घर है। यह मेरा परिवार है, ये मेरे स्वजन हैं" कह कर उनका चित्त संसार में गड़ा नहीं रहता। भक्त के लिये भीतर से सब समान होते हैं। बाहर से भले ही किसी एक मकान में स्वजनों से परिवार से परिवेष्टित रहता भी हो, लेकिन भीतर से वह उतना ही उसका घर-परिवार नहीं; उसका अपना घर तो सारा ब्रह्माण्ड सारा विश्व हो गया है। जहाँ चित्त है वहाँ वास समझना चाहिये। देह प्रारब्धवश कहीं भी हो! कभी नगर-ग्राम में तो कभी विजन-अरण्य में। 'आश्रय' चित्त ग्रहण करता है, आसक्त चित्त होता है।

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।"

चित्त में जिसका निदिध्यास रहता है उसी का सङ्ग होता है। उसी में आसक्ति की सम्भावना है। भक्त का चित्त जुड़ा होता है सर्वाकार—सर्वरूप विश्वाकार प्रभु में! जो सर्वदा सर्वत्र विराजमान हैं। इसलिये उनका निवास प्रभु में ही रहता है।

आघवाचि आकाशस्थिति। जेवीं वायूसि नित्यवसति।
तेंवी जगचि विश्रान्ति।-स्थान जया॥२१२॥

हे विश्वचि माझें घर। ऐसी मति जयाचीं स्थिर।
किंबहुना चराचर। आपण जाहला॥२१३॥

वायु का निवासस्थान जिस प्रकार आकाश है, उसी प्रकार उसका निवास भी अपने हृदयाकाश में विराजमान परम सत्ता में रहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानेश्वरमहाराज योग की तथा लोक की दोनों भाषाओं को साथ लिये चल रहे हैं। आन्तर दशा और बाह्य जीवन-व्यवहार में समन्वय दिखा रहे हैं। कहते हैं—उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् ही उनका विश्रान्तिस्थान है। यों 'जगत्' का अर्थ है नित्य गतिशील। इस सतत गति में भी इस के स्थिर अविचल अधिष्ठान का अखण्ड अनुसन्धान रहने के कारण वे विश्रान्ति पाते हैं। नित्य परिवर्तनशीलता में वे विश्राम अनुभव करते हैं। संसार की गतियों में अपनी गति मिला कर चलते हैं। उस गति में ही नित्य स्थित हैं। [हमारे लिये जगत् बन्धनरूप है, हम लाचारी से कहते हैं "क्या करें भाई! जगत् में पड़े हैं, समाज ऐसा कहता है······" हमने संसार को बन्धनात्मक बना लिया है।] भक्त कहते हैं जगत् तो मुक्ति जीने का स्थान है, अवसर है। ये इतनी विविध गतियाँ न होतीं तो इन से मुक्ति की स्थिरता व स्थिति का महत्त्व ही क्या था? विपत्ति न होती, आपदा न होती तो सम्पन्नता-सम्पत्ति-सम्पदा की क्या कीमत होती?

इसलिये भय-उद्वेग रहित, द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त चित्त होने के कारण भक्त के लिये यह जगत् ही विश्रान्ति स्थान है। [The movement of each relationship becomes the event of relaxation,

सम्बन्धों से बाहर विश्राम की खोज करने की आवश्यकता ही नहीं। सम्बन्ध में ही विश्रान्त चित्त की अभिव्यक्ति है।] निवास वही है जहाँ मनुष्य का चित्त विश्रान्त रहता है। [कुछ समय कहीं बाहर जाकर घर आने पर चित्त कैसा चैन का अनुभव करता है। स्वस्थान, स्वगेह, स्वधाम पहुँचने की एक विशेष अनुभूति नाड़ीतन्त्र में आती है (neurological experience or feeling) रग-रग में एक चैन महसूस होती है। दूसरे स्थान पर कितने भी बढ़िया आरामदेह और वैभव भरे माहौल में हों, नाड़ीतन्त्र कुछ तना-सा रहता है, बच-बच कर चलते हैं, व्यवहार में बनावट रहती है। किन्तु भक्त को पूरा विश्व ही अपना घर मालूम देता है। उसे यह नहीं लगता कि "कहीं मेहमान हूँ, या सराय में आया हूँ, कब यहाँ से लौट चलूँ? कब घर पहुँचूँ?" ऐसी उकताहट नहीं होती संसार में।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"हेचि दान देगा देवा ! तुझा विसर न व्हावा ।
गुण गाईन आवडी । हेचि माझी सर्व गोडी ।
न लगे मुक्तिधनसम्पदा । सन्तसङ्ग देईं सदा ।
तुकाम्हणे गर्भवासीं । सुखें घालावे आम्हांसी !"

तुकाराम कहते हैं जितनी बार गर्भवास देना हो बड़ी खुशी से दीजिये ! मैं उससे डरनेवाला नहीं, मैं वहाँ भी तुम्हारा गुण गाऊँगा और अपने स्वरूप का आनन्द मजे से भोगूँगा। दान देना हो तो इतना दीजिए कि सन्त-सङ्ग बना रहे; उसके सिवा कोई धन सम्पदा मुझे नहीं चाहिए, मुक्ति भी नहीं चाहिए ! यह वीरों की बात है भाई ! कायरों की नहीं !]

"हे विश्वचि माझे घर.........."

"यह विश्व ही मेरा घर है"—ऐसी मति जिसकी स्थिर हो गयी है। [हमारा दुर्भाग्य है कि हमारी मति स्थिर नहीं होती। बात समझ में आ जाती है, किन्तु धारणाशक्ति का अभ्यास स्वशिक्षण एवं साधना द्वारा हमने किया नहीं। इसलिए बात समझ में आती है किन्तु इन्द्रियों में, वृत्तियों में धारण नहीं हो पाती। धृतिशक्ति के बिना स्थिरमति होना सम्भव नहीं है। कोई ही ऐसे भाग्यशाली होंगे कि बात समझ में आयी और तत्क्षण सम्पूर्ण परिवर्तन हो गया। वह सम्भव अवश्य है। लेकिन हम तो सामान्य व्यक्ति हैं न ! अपनी इस सामान्यता में ही परिवर्तन का सोपान हमें बनाना होगा। अभ्यास करने से वह हो सकेगा।

शुभसंस्कारसिञ्चनम् अभ्यासः, शिक्षणम्।

अशुभ का निराकरण उस पर प्रहार करने से नहीं होता, शुभ का संस्कार-सिञ्चन होते रहने से ही अशुभ अपने-आप मिट जाता है। फिर अन्त में तो शुभ का भी आधार छोड़ना पड़ता है कर्त्ता भोक्ता-भावों से सर्वथा मुक्त होने पर ही स्वरूप में स्थिति-आत्मस्थता होती है। खैर,

जिसके चित्त में यह प्रश्न आता हो कि बात समझ में आती है पर क्यों हम जी नहीं पाते उसे ? उसका यह उत्तर है कि बात समझ में आना यानी बुद्धि में गृहीत होना ही काफ़ी नहीं। Spirituality is not an intellectual commitment; it is the movement of total life.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीने के लिए इन्द्रियों में संस्कार करने पड़ते हैं—आहार-विहार में संस्कार, जीवनचर्या व शैली में संस्कार, चित्त में-चिन्तन पद्धति में संस्कार करने होते हैं। वे किये बिना बुद्धि में पकड़ी गयी बात जीवन में उतर नहीं पाती। चित्त एवं इन्द्रियों को सुसंस्कृत न बनाया हो तो मति स्थिर नहीं होगी, तब 'इतोनष्टस्ततो भ्रष्टः' जैसी हालत होगी। सत्य समझने के कारण सामान्य लौकिक संसार में से रस उड़ जायेगा, और जो नया है उसे जिया नहीं जायेगा।

एक घटना स्मरण आती है। उत्तर-अमेरिका में ओहाई-नगर में श्री कृष्णमूर्ति अपने अन्तिम दिनों में थे। आयु के अन्तिम क्षण तक वे जीये हैं, उन्होंने मृत्यु को भी जिया है; मृत्यु ने उनका जीवन छीन नहीं लिया, मृत्यु के भय से उनका देह नहीं छूटा। उन अन्तिम दिनों में किसी निकटवर्ती ने उनसे पूछा कि आपका अन्तिम सन्देश क्या है? उन्होंने कहा—"जो सत्य समझ में आया है उसे उसी समझ आने के क्षण से ही सर्वाङ्ग से जीने लगो; नहीं तो समझ में आया हुआ वह सत्य ही आपके सर्वनाश का कारण बन सकता है।

If you do not get *anchered* in the truth you understand, the very truth may be the cause of your destruction.

क्योंकि संसार में रस ले नहीं पाते और अध्यात्म में जड़ें नहीं पड़ीं।]

"स्थिरमति" शब्द को समझने के लिये यह सब कहा गया। (ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ मुझे अत्यन्त प्रिय है क्योंकि यहाँ एक-एक शब्द में मूलगामी क्रान्ति के सङ्केत पड़े हुए हैं) अब आगे देखें।

किम्बहुना, पार्थ! 'चर और अचर समस्त जगत् में मैं ही विराजमान हूँ' यह तथ्य भक्त की पकड़ में आया रहता है।

You are the world! and the world is you!

"हरिरेव जगद् जगदेव हरिः, हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः"
"ब्रह्माहं त्वं ब्रह्मैवेदं जलशीकरवदभिन्नमिति"

(तुम ही जगत् हो जगत् तुम ही हो! या—हरि ही जगत् हैं जगत् हरि का ही रूप है, हरि से जगत् का तनु भिन्न नहीं है। या - मैं—तू और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह सब कुछ ब्रह्म ही है, जल और उसके कणों या फुहारों के समान सब अभिन्न हैं) एक मात्र आत्मा की ही सत्ता है।

The absolute ground of existence beyond matter and energy.

वही मेरे भीतर है। —यह समक्ष आने पर वही मति स्थिर हो गयी है, इसीलिये चराचर समस्त जगत् अपना-आप ही हो गया है, सर्वत्र आत्मौपम्य भाव (सबको अपने जैसा ही देखना) स्थिर हो गया है। समदर्शन हो गया है इसलिये उसके द्वारा चराचर के साथ सम-वर्तन होता है।

मग याही वरी पार्था। माझ्या भजनीं आस्था।
तरी तयातें मी माथां। मुकुट करी ॥२१४॥

उत्तमासी मस्तक। खालविजे हे काय कौतुक।
परि मानु करिती तिन्ही लोक। पावयणिया ॥२१५॥

तरि श्रद्धा वस्तूसी आदरु। करिता जाणिजें प्रकारु।
जरी होय श्रीगुरु। सदाशिवु ॥२१६॥

परि हे असो आतां। महेशाते वानितां।
आत्मस्तुति होता। संचारु असे ॥२१७॥

इतनी उच्च कक्षा की चेतना जिसकी हो गयी है, और जहाँ मैं हूँ वहाँ जिसने निजधाम बना लिया है, इतना होने पर भी वह मेरे इस सगुण रूप विश्व के प्रति विशेष आस्था, प्रेम प्रकट करता है। इसकी सेवा करता है। इसलिये मैं अपने मस्तक पर मुकुट के रूप में भक्तों का स्मरण रखता हूँ। क्योंकि तत्त्वरूप से चेतना की कक्षा रूप में उनमें मुझमें कोई अन्तर नहीं रहा। फिर भी मुझको वे 'भगवान्' कहते हैं, अपने आप को भक्त कहलाते हैं, और विश्व-रूपी मेरे सगुण विग्रह की सेवा के द्वारा मेरी पूजा करते रहते हैं।

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" "स्वे स्वे कर्मण्यभिरत:"

अपने कर्म करते हुए मेरी सेवा-पूजा करते रहते हैं। समग्र दृष्टि से कर्म को सम्पूर्ण बनाने के लिये अभिरत रहते हैं। मानो उस कर्म के सिवा उनके जीवन में दूसरा कोई प्रयोजन या साध्य ही नहीं है। जो व्यक्ति सामने है उसके सिवा दूसरा कोई आराध्य नहीं है। तन-मन-धन-बुद्धि वाणी सभी के द्वारा जो मेरे सगुण-साकार सर्वव्यापी रूप के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रति आस्था प्रकट करते हैं; उन भक्तों का स्मरण मेरे मस्तक का मुकुट है अर्जुन !

जो अपने से श्रेष्ठ है उसके सामने सिर झुकाने में क्या नम्रता है भला ? वह तो सहज ही परिस्थिति का दबाव है कि जिसकी श्रेष्ठता का परिचय है उसके सामने मस्तक झुकाते हैं, इसमें क्या विशेष बात है ? लेकिन (अब पौराणिक सन्दर्भ लेकर कह रहे हैं। विष्णु के गुरु हैं शिव, और शिव के गुरु हैं विष्णु, परस्पर पूज्यता एवं प्रेम-भाव है। गङ्गा विष्णुचरणोदक कहलाती है। उसे शिव ने अपने मस्तक पर धारण किया) गुरु होते हुए भी शिष्य के चरण धोया हुआ जल जिन्होंने मस्तक पर धारण किया (यहाँ चरण नीचे का अङ्ग और मस्तक उत्तमाङ्ग—यह श्लेष भी है) ऐसे आदि गुरु ईश्वर सदाशिव जैसे व्यक्ति ही भक्ति का रहस्य जानते हैं। आदिनाथ शिव कभी मनुष्य रूप धारण करके धरती पर जीये नहीं, अवतार-रूप से धरती पर नहीं आये। सदा 'ईश्वर' ही रहे हैं, फिर भी विष्णुचरणोदक अपने मस्तक पर लिये हैं।

[भारतीय हृदय अतीव रसिक एवं सङ्केत माधुरी का स्वाद लेने-वाला रहा, इसीलिये पौराणिक कथायें अद्भुत रमणीय सङ्केतों से भरी हैं।]

यहाँ ज्ञानेश्वर श्रीकृष्ण-मुख से कहला रहे हैं कि भक्ति करना मैं क्या जानूँ पार्थ ! भक्ति का रहस्य तो शिव ही जानते हैं। उनसे मैंने यह प्रेम रहस्य पाया है। इसलिये भक्तों के स्मरण को मैं मुकुट बना कर अपने मस्तक पर धारण करता हूँ। यह मेरी गुरुपरम्परा है कि जो स्वयं को हमसे कनिष्ठ मानते हैं उन्हें मस्तक पर रखूँ। श्रेष्ठ के सामने तो स्वाभाविक ही श्रेष्ठता-कनिष्ठता-दशा से ही मस्तक झुका हुआ है। इसलिये महत्ता किसमें है ?—

"श्रद्धा वस्तुचि आदरु। करिता जाणिजे प्रकारु।
जरि होय श्रीगुरु। सदाशिवु॥"

श्रद्धा वस्तु का आदर करने की रीति तो तभी जानी जा सकती है यदि सदाशिव जैसे गुरु से सीखें।

अब ध्यान आया कि यह मैं क्या कहने लगा ! अतः बोले—अर्जुन ! अब यह रहने दो। क्योंकि महेश का वर्णन करने लगूँगा तो वह आत्म-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्तुति (अपनी ही स्तुति) हो जायेगी। यह वाणी में दोष प्रवेश करेगा। मेरे गुरु मेरा कैसा सम्मान कर रहे हैं यह अपने मुँह से कैसे कहूँ ? इसलिये यह बात अब छोड़ देते हैं।

यया लागीं हे नोहें। म्हणितलें रमानाहें।
अर्जुना मी वाहें। शिरीं तयातें ॥२१८॥

कहने की बात इतनी है अर्जुन कि श्रद्धा का आदर करने के लिये ही मैं अपने भक्तों को, उनके नाम को उनके स्मरण को अपने मस्तक पर धारण करता हूँ।

जे पुरुषार्थ-सिद्धि चौथी। घेउनि आपल्या हातीं।
रिगाला भक्तिपंथी। जगा देतु ॥२१९॥

कैवल्याचा अधिकारी। मोक्षाची सोडी बाँधी करी।
कीं जळाचिये परी। तळवटु घे ॥२२०॥

म्हणोनि गा नमस्कारूं। तयातें आम्हो माथां मुकुट करूं।
तयाची टांच धरूं। हृदयीं आम्हीं ॥२२१॥

तयाचिया गुणांची लेणीं। लेववूं आपुलिये वाणी।
तयाची कीर्ति श्रवणीं। आम्ही लेऊं ॥२२२॥

वास्तव में तो मेरे भक्त कैवल्य के अधिकारी हैं, जहाँ किसी भी प्रकार का कर्म उनके लिये विहित (अवश्यकरणीय) नहीं [शास्त्र में कहा गया है (जैसा कि आद्यशङ्कराचार्य द्वारा व्याख्यात है) कि संन्यासोत्तर, ज्ञानोत्तर कर्म का प्रयोजन नहीं और ज्ञानेश्वर कहते हैं कि ज्ञानोत्तर कर्म विहित है, इस बात को इधर लोकमान्य तिलक ने कर्मयोग-रहस्य में कहा। ज्ञानेश्वर महाराज श्रीकृष्णमुख से कहला रहे हैं—] चारों पुरुषार्थों की सिद्धि हाथ में लिये हुए मेरे भक्त भक्ति पथ पर चल निकलते हैं। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सभी उनके हाथ में है किन्तु उनका विनियोग अपने सुख के लिये वे नहीं करते, स्वयं अनिकेत-अकिञ्चन रहते हुए मेरे भक्त मेरे नाम का महिमा गाते हुए सारे संसार को बताते रहते हैं। नाम यानी तत्त्व का सङ्केत, सगुण याने निर्गुण का सङ्केत। इन संकेतों का रहस्य खोल कर कहते हुए चलते हैं। स्वयं कैवल्य अवस्था में रहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्त तुकाराम ने गाया है—

"मुक्तिरे आम्ही परिणली नोवरी, ऋद्धि-सिद्धि घरीं पाणी भरी !"

मुक्ति तो हमारी ब्याही हुई वधू है, वह हमें छोड़कर जा ही नहीं सकती, और ऋद्धि-सिद्धियाँ उसके साथ आयी हुई दासियाँ हैं पानी भरने के लिये। उनसे हम काम लें या न लें, वे चुपचाप घर के कोने में रहती हैं। और हम तो मग्न हैं अपने प्यारे प्रभु के गुणगान में। उनका महिमा-प्रसाद जगत् को बाँटने में !]

ऐसे भक्तों को मैं नमस्कार करता हूँ अर्जुन ! वे मुझे लात मारें तो उस आघात का चिह्न कौस्तुभ की तरह अपने वक्ष पर धारण करता हूँ। (भृगु आये थे न विष्णु की परीक्षा लेने ! आकर सीधे लक्ष्मीजी के साथ बैठे हुए विष्णु के वक्ष पर लात मारी। तो रमापति तुरन्त उठकर भृगु का पाँव सहलाने लगे यह कहते हुए "भूदेव !, कहीं आपके पाँव में आघात तो नहीं लगा ? मेरा वक्ष तो बड़ा कठोर है।" फिर उस चरण चिह्न को सदा के लिये वक्ष में धारण कर लिया।—उसी सन्दर्भ का उल्लेख कर रहे हैं श्रीकृष्ण यहाँ।) इतने वे मेरे लिये प्रणम्य हैं। उनकी कीर्ति का श्रवण करना मेरा कर्णभूषण है उनके गुणों का वर्णन करना मेरी वाणी का अलङ्कार है।

तो पहावा हे डोहळे। म्हणोनि अचक्षूसी मज डोळे।
हातींचेनि लीलाकमळें। पुजूँ तयातें ॥२२३॥
दोंवरी दोनी। भुजा आलों घेउनी।
आलिंगावया लागुनी। तयाचे आंग ॥२२४॥

मैंने जो शंख चक्र गदा पद्म धारण किये हैं वे भी अपने भक्तों की सेवा के लिये ही ! हाथ में कमल है भक्त की पूजा के लिये; मेरे चक्षु हैं उन्हें देखने के लिये, वाणी है उनका गुण गाने के लिये, उनके गुण-श्रवण के लिये मैंने श्रुति (कान) धारण की हैं।

[यह सब—ज्ञानेश्वर महाराज की "शान्तरस द्वारा शृङ्गार रसराज को जीत लेने की प्रतिज्ञा का पालन है। शृङ्गार रस का निषेध नहीं है उनके चित्त में। भक्त और भगवान् के प्रणय की मुग्धता ज्ञानेश्वर के एक-एक शब्द में थिरकती-नाचती-गाती है। शान्तरस के परिधान में शृङ्गार कैसा सुशोभित होता है यह ज्ञानेश्वरी में देखने को मिलता है।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि मेरे भक्तों की पूजा के लिये मैं लीलाकमल हाथ में लिये रहता हूँ, और भक्त के सम्मुख आते ही मैं चार भुजाओं वाला हो जाता हूँ क्योंकि दो बाँहों से भक्त को आलिङ्गन में लेने से मेरा मन नहीं भरता।

> तया संगाचेनि सुरवाडें। मज विदेहा देह धरणें घडे।
> किबहुना आवडें। निरुपमु गा ॥२२५॥

जो निर्गुण-निराकार हैं वे सगुण-साकार क्यों बनते हैं, अवतार-रूप क्यों धारण करते हैं? इसका एक हृदयाभिराम रम्य कारण महाराज श्रीकृष्ण मुख से कहलाते हैं कि—वैसे तो मैं देहातीव, विदेही, नामातीत, रूपातीत, सर्वव्यापी निराकार निर्गुण हूँ किन्तु मैंने गुण-नाम-रूप-देह आदि सब धारण करके एकदेशी होने का आरोप सहन कर लिया इन भक्तों के सङ्ग के लोभ से ही। मैं मनुष्य शरीर में धरती पर प्रकट न होऊँ तो अपने भक्तों का आलिङ्गन-आनन्द कैसे पाऊँ? भक्तों का सङ्ग मुझे कैसे मिले? उस सङ्ग की ही उत्कट इच्छा से मैं मानव बन कर आता हूँ, मानवोचित सब व्यवहार करता हूँ। कभी रघुकुल का रामचन्द्र बन कर तो कभी यदुकुल का वासुदेव कृष्ण बन कर देह का लाञ्छन भी सहन करता हूँ। एक ही प्रयोजन है मेरा कि भक्तों का सङ्ग पा सकूँ। भक्तों के सङ्ग में जो शुचिता एवं आनन्द है वह मेरे बैकुण्ठ में नहीं है अर्जुन।

> तेणेंसि आम्हां मैत्र। एथ कायसें विचित्र।
> परि तयाचें चरित्र। ऐकती जे ॥२२६॥
>
> तेही प्राणापरौते। आवडती मज निरुते।
> जे भक्तचरित्रातें। प्रशंसिती ॥२२७॥
>
> जें हें अर्जुना साद्यन्त। सांगितले प्रस्तुत।
> भक्तियोगु समस्त। योगरूप ॥२२८॥
>
> जे मी प्रीतिकरी। कां मनि शिरसा धरीं।
> येवढी थोरी। जया स्थितीये ॥२२९॥

उस योगी भक्त के साथ हमारी मैत्री है, इस में कोई आश्चर्य नहीं है पार्थ! जो व्यक्ति उन भक्तों का चरित्र गाते और सुनते हैं वे भी हमें प्राणप्रिय हैं। भक्त चरित्रों की प्रशंसा करने वालों से अधिक मुझे और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ भी प्रिय नहीं है। यह सारा विश्व का पसारा जो अपने आनन्द-आस्वाद के लिये अपने में से ही पैदा करके रखा है, उसमें से आनन्ददायक तो यह भक्तचरित्र ही है।

[सन्त एकनाथ महाराज ने अपने एक भजन में गाया है—

"सन्त-चरित्रे परम पवित्रे प्रेमे गावा"...... ..."

सन्त-चरित्र के समान परम पवित्र और कुछ नहीं प्रेम से गाइये]

अर्जुन ! मैं अनेक प्रकारों से तुझे जो बात समझा रहा हूँ वह आदि से अन्ततक समस्त भक्तियोग है। यह योगशास्त्र है यह ध्यान रखना।

"जाणणें आपणा आपण याचेचिँ नाँव ज्ञान।"

अपने आप को जानना यही ज्ञान है, केवल पदार्थों को जानना अज्ञान कहलाता है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥"

जो कोरे पदार्थज्ञान की उपासना करते हैं वे घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं, और जो केवल अध्यात्मविद्या में रत रहते हैं, (इस कारण अन्य पदार्थज्ञान आदि की उपेक्षा करते हैं, वे और भी घने अन्धकार में जाते हैं। इस लिये जो विद्या तथा अविद्या दोनों को साथ-साथ जानता है वह अविद्या द्वारा अन्धकार को पार कर के विद्या द्वारा अमृत तत्त्व चखता है। परमात्मा के स्वरूप में विद्या-अविद्या दोनों निहित हैं। शब्द एवं उनके अर्थ दोनों परमात्मसत्ता में ही हैं। वहाँ पदार्थ ज्ञान और आत्मविद्या का महत्त्व समान रूप से है। दोनों के साथ उस परमतत्त्व को जानना चाहिये। सगुण और निर्गुण दोनों के साथ गुणातीत को पहचानना चाहिये। यह अध्यात्म विद्या का प्रयोजन है। विज्ञान यदि अध्यात्म के अधिष्ठान पर खड़ा न होगा तो पता नहीं हम कहाँ भटक जायेंगे।

यहाँ उसकी याद दिला रहे हैं वासुदेव मुख से श्रीज्ञानेश्वर महाराज !

यह भक्ति योगशास्त्र है, इस योग के अभ्यास से अन्तर्बाह्य योगावस्था सिद्ध होती है। अद्वैत की अभिव्यक्ति द्वैत में कैसे की जाय,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेदान्त को जीवन में कैसे जिया जाय—यह विद्या तेरे सामने रखी है। 'युज्यतेऽनेन इति योगः'। जो चेतना को परमतत्त्व से सायुज्य तक पहुँचाता है वह योग है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया ॥२०॥

तेहे गोष्टी रम्य। अमृतधारा धर्म्य।
करिती प्रतीतिगम्य। आइकोनि जे ॥२३०॥

तैसीचि श्रद्धेचेनि आदरें। जयांचां ठायीं विस्तरे।
जीवीं जया धारे। जे अनुष्ठिती ॥२३१॥

यह जो कहा गया यह बड़ी रम्य 'गोष्ठी' है अर्जुन! (मराठी भाषा में 'गोष्ठी' शब्द के दो अर्थ हैं, १–कहानी, २–प्रियजनों का संवाद, वार्तालाप। यहाँ श्रीकृष्णार्जुन का संवाद है, और उसे संजय धृतराष्ट्र को कहानी के रूप में सुना रहे हैं।) यह अमृत की धारा जैसी है। अमृत मधुर है, वह मधुरता कभी बिगड़ती नहीं, कम नहीं होती। अमृत के माधुर्य से कभी कोई ऊब नहीं सकता, और उसमें कभी विकार (सड़ना, बुसना, खट्टा-कड़वा होना) नहीं आता। इस नित्य मधुरता के साथ-साथ अमृत में जीवनदायिनी शक्ति है। वैसे ही गीता अमृतधारा है; संसार के ताप से मृतप्राय हो रहे जीवों के लिये सञ्जीवनी है, और अमृत तुल्य माधुरी इसमें है।

फिर यह धर्म्य भी है। धर्मानुरूप है, धारण करने योग्य है, और धारण किये जाने पर यह प्राणी को सब प्रकार से धारण करने में सक्षम है। "धर्मो रक्षति रक्षितः" "धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः" अमृत-बिन्दु में शाश्वत सनातन धर्म का रहस्य है।

[पहले भी ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा हैं कि—गीता तो आत्मा के अवतरण के लिये मन्त्र है, जीवन जीना सिखाने वाला शास्त्र है।]

यह अमृतधारा केवल रोचक, सुस्वादु ही नहीं, केवल जीवन देने वाली ही नहीं, जीवन को धारण करने की कला भी सिखाती है गीता। उसका भी हृदय-स्थल यह भक्तियोग सर्वथा अमृत की धारा है। जितनी मधुर है, उतनी ही सारगर्भित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह अमृतबिन्दु किसको सञ्जीवन देगा ? किसके लिये वह अपनी मधुरता सङ्क्रान्त करेगा ? जो सेवन करेगा उसके लिये। अमृतबिन्दु या धारा को दूर से देख लिया—उतने से ही काम नहीं बनेगा। सुनकर जो उसे प्रतीतिगम्य बना लेगा उसी में वह सञ्जीवनी सङ्क्रान्त करेगा। [जो प्रतीति लेने के लिये श्रवण करते हैं, केवल मनोरञ्जन या बुद्धिरञ्जन के लिये नहीं। लोग कहते हैं, न! "अमुक जगह कोई व्याख्यान हो रहे हैं, चलो समय बिताने के लिये वहाँ हो आयें, क्या बोला जा रहा है देखें! जरा मन बहला आयें!" या फिर "कथा सुनने से, सत्सङ्ग में जाने से पुण्य मिलता है, तो चलो अपने खाली समय में कथा-परायण-प्रवचन सुन कर पुण्य कमा लें।" इस तरह की भावना हो तो 'श्रवण' नहीं होता। यह 'ऐरे-गैरे-नत्थू खैरों' का काम नहीं है।] श्रवण करने से जिनमें प्रतीति होती है, और जो निश्चय करते हैं कि "इस आशय को मैं जीवन में धारण करूँगा" वे सच्चा श्रवण एवं सेवन करते हैं। वे इस सुरम्य अमृतधारा का सेवन करते हैं प्रतीति लेने के लिये।

श्रवण एक बहुत बड़ी कला है। श्रवण में निहित है सम्पूर्ण एकाग्रता, अर्थग्रहण, भावधारण, सेवन की तत्परता। श्रवण के पथ पर चल कर प्रतीति रूप भवन तक उन्हें पहुँचना है। प्रतीति तक पहुँचने के लिये पथ है श्रवण। वह राह कैसी जो मंजिल तक न पहुँचाये ? इसलिये महाराज कहते हैं कि श्रवण के पथ पर चलकर इस गोष्ठी (रहस्य-कथन, प्रेम भरा संवाद) की प्रतीति तक पहुँचने के लिये जो सङ्कल्पबद्ध होते हैं उनके लिये यह अमृतधारा धर्म्य है। और इस पथ से चल कर प्रतीति धाम तक कौन पहुँचेगा ? "जे श्रद्धानिबलें····जे जीवाधारें जीवीं अनुष्ठिती!"

किसे वह प्रतीति आयेगी ? जो अपने पञ्चप्राणों से, पूर्ण श्रद्धापूर्वक अपने प्रतिदिन के प्रतिपल के जीवन में उसका अनुष्ठान करते हैं। श्रवण के बाद जिनके जीवन में उस अर्थ-बोध का अनुष्ठान प्रारम्भ हो गया वे प्रतीति के धाम पर पहुँचेंगे।

परि निरूपलीं जैसी। तैसी च स्थिति मानसीं।
मग सुक्षेत्रीं जैसी। पेरणीं केली ॥२३२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोई बीज बोते हैं हम, मान लीजिये अश्वत्थ का, वट का, आम्र का, या अन्य कोई, तो उस नन्हें से बीज में समस्त शाखा-पल्लव-फूल-फल सहित पूरा वृक्ष सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ रहता है न! वैसे ही विराट सर्वव्यापी प्रभु की वाणी का बीज मानो श्रवण द्वारा अपने चित्त में बोया जाता है। वह बीज जिसने अपने जीवन में बो लिया, उसकी इन्द्रियों द्वारा उस अर्थ का विस्तार होता है। बीज श्रद्धा-पूर्वक बोया, सन्तों के कहने से प्रभु को चित्त में स्थापित किया यानी श्रद्धा से ही प्रारम्भ हुआ; फिर श्रद्धा-आदर के खाद-पानी-धूप-हवा देकर उस बीज का संगोपन-पोषण-संवर्धन किया; तब आपके जीवन में उस अर्थ का विस्तार होगा। वह आपकी आँखों में से झाँकेगा, वाणी में से बोलेगा, आपकी कृतियों में वही प्रकट होगा।

इस तरह श्रद्धापूर्वक, पञ्चप्राणों की अनन्य प्रीतिपूर्वक जो श्रवण-बीज चित्त में बोया जाता है—पाला-पोसा जाता है उसके अर्थ का विस्तार आपके काया-मन-वाणी सभी में होता हुआ आपको प्रतीति तक पहुँचा देता है।

परि मातें परम करूनि। इये अर्थी प्रेम धरूनि।
हेंचि सर्वस्व मानूनि। घेती जे पैं ॥२३३॥

पार्था गा जगीं। तेचि भक्त तेचि योगी।
उत्कंठा तयालागीं। अखण्ड मज ॥२३४॥

बीज बोना है तो सुक्षेत्र चाहिये। मन नाम के खेत की स्थिति बीज बोने लायक होनी चाहिये। किसान कब बीज बोता है? पहले खेत में हल चलाता है, घास-करकट आदि को जड़ से उखाड़कर मिट्टी में से निकाल देता है, खेत को अच्छी तरह साफ़ करता है, फिर समतल करता है। ऐसे ही मुमुक्षा से, शम-दमादि षट्साधन-सम्पत्ति से मन नामक खेत को तैयार करना पड़ता है। इस प्रकार जिसने मन का शुद्धीकरण कर लिया है, फिर श्रवण करने बैठा है, उसके मनस् में यह बीज बोया जायेगा। तभी सुन्दर सुफल खेती होगी। ऐसा न हो (मन शुद्ध किया न हो, खेत साफ़ और पोला न किया हो) तो कुछ बीज उगेंगे, अधिकतर नहीं उगेंगे, जो उगेंगे वे भी पुष्ट नहीं होंगे। जैसा निरूपण हुआ है उसे वैसा ही चित्त में धारण कर सकेगा वह व्यक्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिसने अपने चित्त को पहले ही मुमुक्षा वैराग्यादि के द्वारा शुद्ध कर लिया है। तभी इन बीजों का उसके जीवन में विस्तार होगा; नहीं तो यह बीज बोना व्यर्थ जायेगा।

यही आशय है १८ वें अध्याय के अन्त में कहे गये वाक्यों का, कि— श्रद्धारहित को यह नहीं सुनाना, जो आतुर है व्यग्र-उद्विग्नचित्त है उसे नहीं देना, अप्रतिष्ठित तर्क-कुतर्क करने वाले को नहीं देना। मन चञ्चल होगा, संशयी होगा तो बीज को धारण नहीं कर पायेगा, आज बोया कल उठाकर फेंक दिया, सन्देह आया तो बार-बार बीज को बाहर निकाल कर उलट-पलट कर देखने लगा। ऐसे बीज में से अङ्कुर कैसे निकलेगा ?

सुक्षेत्र में बीज बोने के समान शुद्ध चित्त से श्रवण करने वाले व्यक्ति के जीवन में बोध का विस्तार होता है, सुसमय वर्षा व धूप के समान उसे सुसंयोग रूप प्रभुकृपावसर मिलते रहते हैं। और किस प्रकार सुक्षेत्र बनता है ?—

मैं जो जीवन की परम सत्ता हूँ, जो जीवन का चरम सत्य हूँ, जीवन का अधिष्ठान रूप अखण्डित एकमात्र सत्त्व हूँ। उस मुझको सर्वस्व मानकर जीवन जीना चाहते हैं उनका चित्त सुक्षेत्र बनता है। यह प्राथमिकता अग्रिमता और समर्पितता (priority and dedication) का सवाल है। यदि इतना ही हो कि जैसे अन्य इच्छायें हैं वैसे एक इच्छा यह भी है कि कुछ अध्यात्म-मार्ग पर चलना भी हो जाय, वहाँ की अनुभूतियाँ भी देख लें तो अच्छा। इससे काम नहीं बनता। वह तो अध्यात्म को भी एक 'विषय' या पदार्थ बनाना हो गया; अपने अहं की तुष्टि के लिए एक नया स्वाद चखना हुआ। अध्यात्म ऐसे अधूरेपन या स्वाद चखने की भावना से नहीं जिया जा सकता। यहाँ अनन्यता एवं एकोन्मुख अग्रिमता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। समर्पण के बिना, उस परमसत्ता को ही अपना सर्वस्व मानकर ग्रहण-धारण किये बिना अध्यात्मबीज उगता-फूलता-फलता नहीं। और जो 'मुझे' (परमात्मा-परमसत्ता शब्द के अर्थ-बीज को) अपना सर्वस्व समझ लेते हैं उनके जीवन में वह बीज श्रवण द्वारा बोया जाता है तो फिर उस ग्रहण के उपरान्त उन्हें उसके लिए कोई पृथक् श्रम नहीं करना पड़ता। उस बीज का अर्थ-विस्तार स्वयं होता चलता है। ग्रहण से पहले का पुरुषार्थ है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काया-वाचा-मनसा शोधनक्रिया करना। तीन शर्तें कह दी हैं इस ओवी में। मुझे (१) प्रेम से (२) ग्रहण करे, (३) सर्वस्व माने। यह तीनों जिसमें हैं वही मेरा भक्त है, वह अखण्ड योगी है, उससे मिलने की मुझे उत्कण्ठा रहती है।

ते तीर्थ तें क्षेत्र। जगीं तेचि पवित्र।
भक्तिकथेसी मैत्र। जयां पुरुषां ॥२३५॥

वे ही इस त्रैगुण्यात्मक संसार में निस्त्रैगुण्य होकर नित्य सत्त्वस्थ हो गये हैं, वे ही इस जगत् में सदेह तीर्थ क्षेत्र हैं, वे परम पवित्र हैं एवं जगत् को पवित्र बनाते हैं।

आम्हीं तयाँचे करूँ ध्यान। तो आमुचे देवार्चन।
ते वांचूनि आन। गोमटें नाहीं ॥२३६॥

मैं उनका ध्यान करता हूँ; वे ही मेरे देव हैं उनका ध्यान-स्मरण करना मेरा देवार्चन है। मैं भी पूजा करता हूँ भक्तों की। उनके सिवा संसार में कुछ भी मेरी दृष्टि में सर्वाङ्ग-सुन्दर नहीं।

तयाँचे आम्हा व्यसन। तो आमुचें निधिनिधान।
किं बहुना समाधान। तो मिळे तँ ॥२३७॥

(ज्ञानेश्वर महाराज कभी द्विरुक्ति नहीं करते, किन्तु इस अध्याय में भगवान् द्वारा भक्त की स्तुति गाने के प्रसङ्ग में पुनरुक्ति दोष भी सहन करके पुनः पुनः कहला रहे हैं—) भक्तों का तो मुझे व्यसन है। वे मेरे निधि-निधान हैं। मैं तो कंगाल हूँ, मेरे पास है ही क्या? नाम नहीं, रूप नहीं; गुण नहीं, कर्तृत्व नहीं इसलिये कुछ भी कर्म नहीं, जन्म नहीं अतः लीला भी नहीं। पर मेरे भक्तों ने मुझे अनन्त प्रकार से नाम-रूप-गुण-कर्म-लीला आदि विविध साज सजाये हैं, सब प्रकार की निधियों का निधान बना दिया है, लक्ष्मी का वल्लभ बना दिया है। इसलिये कितना कहाँ तक कहूँ पार्थ तुझे! सच तो यह है कि लक्ष्मीरमण होकर मुझे उतना आनन्द नहीं जितना भक्तों से मिलने पर आनन्द होता है।

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त संकीर्तन करते हैं। इसीलिये भक्तों ने कहा है कि "वैकुण्ठ नहीं जाना है गोकुल-वृन्दावन प्यारा है, व्रजमण्डल प्यारा है।" वह केवल गोपियों को नहीं गोविन्द को भी वही प्यारा है, क्योंकि वहाँ लीला- नाम-रूप-गुण गाये जाये जाते हैं, वहाँ प्रेम-भावोल्लास है; मेरे प्रेम स्वरूप के उन्मेष प्रकट हैं। अतः वहीं रहना मुझे भाता है।

पैं प्रेमळाची वार्ता। जे अनुवादती पांडुसुता।
ते मानूं परमदेवता। आपुली आम्ही ॥२३८॥

बड़ी मजे की बात है—भक्त मिलते हैं इससे समाधान तो होता है पर आनन्द तब होता है जब कोई मेरे प्रेमी भक्तों के जीवन-चरित शब्दों में कहते हैं, अनुवाद करते हैं। क्योंकि भक्त अपना महिमा तो गायेंगे नहीं, उनके पास कोई कर्तृत्व-भोक्तृत्वभाव नहीं, साक्षित्व जितना भी अहं शेष नहीं रहा। इसलिये मुझे आनन्द देते हैं वे—जो मेरे भक्तों की कथा कहते हैं, भक्त तो मेरी कथा कहते हैं मेरे गुण गाते हैं। पर मेरे इन भक्तों के जो गुण गाते हैं वे मेरे परम दैवत हैं, पूज्य-आराध्य हैं। भक्त मेरे सखा हैं, कान्ता है, उन्हें मैं सर्वाङ्ग से मिलता हूँ उन्हें कमल चढ़ाता हूँ। पर मुझे विशेष आनन्द तब होता है जब मेरे भक्तों का गुणगान किसी से सुन पाता हूँ। तबतक मुझे चैन नहीं।

ऐसें निजजनानन्दें। तेणें जगदादिकन्दें।
बोलिलें मुकुन्दें। संजयो म्हणे ॥२३९॥

अब धृतराष्ट्र से संजय कहता है कि निज जनों को आनन्द देने वाले, या निज जन में ही आनन्द पाने वाले, या निज जन ही जिनका आनन्द है—ऐसे, या जिसके निजत्व को पहचानने वाले ही आनन्द देते हैं ऐसे जगत् के आदि कन्द वासुदेव ऐसा बोले।

अनन्त गतियों का महारास जिसमें चलता रहता है वह जगत् है; गति है ऊर्जा के कारण, पदार्थमय पाञ्चभौतिक गतियों की बीज रूप ऊर्जा के जो मूलस्रोत हैं, ऐसे जगत् के जो आदिकन्द हैं।

और कैसे हैं वे वासुदेव ?

राया जो निर्मळु। निष्कळ लोकक्रुपाळु।
शरणागतां प्रतिपाळु। शरण्यु जो ॥२४०॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो धर्मकीर्ति धवळु । अगाध दातृत्वें सरळु ।
अतुलबळें प्रबळु । बळिबन्धनु ॥२४१॥

जिनकी धवल कीर्ति है धर्म-पुरुष होने के नाते। भावनगर के 'दर्शक' (श्री मनु भाई पंचोली) ने अपनी पुस्तकों में महाभारत के "धर्मपुरुष वासुदेव !" के बारे में बहुत कुछ लिखा है, भाषणों में कहा है। वासुदेव धर्मपुरुष भी रहे मर्मपुरुष भी। तो इस नाते जिनकी धवलकीर्ति ही उनका ध्वज बनी है। और इतने सरल हैं कि उनका दातृत्व अगाध है, देना ही देना जानते हैं, लेना नहीं जानते। कंस वध के बाद राज सिंहासन पर स्वयं नहीं बैठे—नाना उग्रसेन को बैठाया, नई नगरी द्वारिका बसाई नया राज्य बनाया, लेकिन वहाँ भी स्वयं राजगद्दी पर नहीं बैठे। जन्म से लेकर स्वधाम जाने तक सर्वदा सब को जिसे जो चाहिये वह लुटाते ही रहे, अपने लिये कभी कुछ न रखा। पूरा महाभारत देख लीजियेगा—वासुदेव जैसे जीवन-रसिक परम संन्यासी और कोई नहीं। सम्पूर्ण मानवीय इतिहास में ऐसा अन्य कोई व्यक्तित्व नहीं। वासुदेव का सम्पूर्ण जीवन केवल दातृत्व की गाथा है। लेना जिसने जाना ही नहीं; जो कभी अपने लिये जीया ही नहीं ऐसे हैं केवल वासुदेव। इसीलिये वे सरलतम हैं।

ऋजुता का—सरलता का भङ्ग वहीं होता है, वक्रता-कुटिलता वहीं आती है जहाँ लेने की वाञ्छा (लालसा) है। जिसे लेना है ही नहीं, केवल देना ही देना है तो वह दातृत्व की गङ्गा सरलता से बहती है। रामकृष्णदेव कहते थे कि जप से-तप से सब कुछ मिल सकता है—अनेकों ऋद्धि-सिद्धियाँ, शक्तियाँ, सुखानुभूतियाँ, लौकिक जीवन में प्रतिष्ठा, धन-दौलत यहाँ तक कि मुक्ति भी मिल सकती है, लेकिन हृदय की सरलता पुरुषार्थ से नहीं मिलती, वह प्रभु की देन है।

अर्जुन तो ऋजु थे ही इसीलिये अर्जुन कहलाये पर वासुदेव के दातृत्व की तो कोई थाह नहीं। जो अपने आपको ही दे देता है उससे बड़ा दाता कौन हो सकता है ? परमात्मा अपने आपको ही तो लुटाने बैठते हैं।

ऐसे शरण्य हैं जो, कि जिनके प्रति शरणागत होने का भाव ही काफ़ी है; और कुछ स्थूल देना नहीं पड़ता।

"भावग्राही जनार्दनः, रसग्राही जनार्दनः"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥"

(पत्ता, फूल, फल या केवल जल की अञ्जलि भी मुझे भक्ति-भाव से जो देता है वह मैं अवश्य लेता हूँ।)

जल से भी आगे बढ़े तो केवल भाव भी जो देता है उसी से प्रभु सन्तुष्ट हैं। भाव के सौरभ से सन्तुष्ट होने की रसिकता है उनमें। वस्तुतः "रसानां वै रसः" ऐसे रसेश्वर वासुदेव के बारे में रसिकवर ज्ञानेश्वर लिख रहे हैं कि वे शरणागत-प्रतिपालक शरण्य हैं।

जिनके बल की तुलना कहीं नहीं हो सकती ऐसे अतुल-बल-निधान वे श्री हरि आनन्द से बलि के बन्धन में चले गये। ऐसे वे शरण्य हैं।

संजय उनका स्मरण करते हुए स्वयं भावविभोर हो गये हैं; भूल गये हैं कि धृतराष्ट्र को इस सबसे कोई मतलब नहीं, उसे तो केवल अपने पुत्रों के कृतित्व की जानकारी और उन्हीं की प्रशंसा में रस है। पर संजय उन्हें सुना रहे हैं अपने प्रभु वासुदेव का स्वरूप! वे कैसे हैं? अतुल बल से प्रबल हैं, फिर भी प्रेम के कारण बलि के बन्धन में चले गये हैं।

जो पैं सुरसहायशीलु। लोकलालनलीलु।
प्रणतप्रतिपालु। हा खेलु जयाचा ॥२४२॥

प्रणतों का प्रतिपालन एवं देवी-देवताओं की सहाय करना जिनका शील है। लोक का लालन लीला है जिनकी।

[यहाँ मधुराद्वैत की बातें हैं न! यहाँ जगत् मिथ्या नहीं, माया नहीं, विवर्त नहीं, प्रातिभासिक नहीं, स्वयं ब्रह्म को काया ही है। और जगत् बनने में ब्रह्म शबल नहीं हो गया है, आच्छादित, आवृत नहीं है। जगत्-रूप होकर भी तत्त्वतः एवं सत्ता रूप में ब्रह्म नित्य शुद्ध प्रबुद्ध आनन्दघन रूप ही है। जगत् के कण-कण में अणुरेणु में व्याप्त होने पर भी ब्रह्म अविकृत ही रहा है। ज्ञानेश्वर महाराज ने अद्वैत वेदान्त में भी मधुरता की मोहर लगा दी है। वे कहते हैं—]

'लोकलालनलील' हैं वासुदेव! सप्तलोकों का लालन करना जिनकी लीला है। लीला में, क्रीड़ा में कोई आयास-प्रयास नहीं। वह सब सहज है, अनायास है। सहजता की गाथा, सहजता का महाकाव्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वासुदेव कृष्ण के जीवन में देखने को मिलता है। सरलता, अगाध दातृत्व तो है ही, साथ ही परम मधुर सहजता है; कहीं कोई आयास-प्रयास नहीं, कर्तृत्व का भाव नहीं। गोकुल में—वृन्दावन में जो लीला आरम्भ होती है वह अन्त तक, लीला समेटने की बेला तक अविरत वैसी ही अनायास मधुर सहज आत्मदानमयी चलती रहती है। पृथ्वी पर भार न रहे इसलिये यादव कुल को भी समेट लेना है, द्वारिका नगरी समाप्त होने वाली है—सब जानने के बाद भी लीला ही लीला चल रही है। अपने पाँव में बाण मारने वाले व्याध को भी सान्त्वना देते हैं, वह दुःखी न हो इसके लिये समझाते हैं।

वे भक्तजनों के प्रति वत्सल हैं और प्रेम में प्राञ्जल हैं। भक्त जहाँ ले जायें वहाँ जाते हैं, जो कहें वह करते हैं। और प्रेमीजन के प्रति ऐसे प्राञ्जल हैं कि विदुर के घर गये तो आनन्दविभोर विदुरपत्नी स्नान करते हुए निर्वस्त्र ही स्वागत करने लगी, उसे अपने तन का भान न रहा, और भाव विह्वल दशा में केले छील कर छिलका ही कृष्ण को थमाती गई, फल फेंकती रही; तो भावग्राही वासुदेव प्रेम से वे छिलके ही स्वाद से खाते रहे। क्या वे जानते नहीं थे कि यह छिलका है। पर वे तो प्रेमीजन के प्रेम का स्वाद ले रहे थे, छिलका तो निमित्त था।

जो भक्तजनवत्सलु। प्रेमीजनप्राञ्जलु।
सत्यसेतु सरळु। कलानिधि ॥२४३॥

सत्य तक पहुँचने वाले सरलसेतु हैं। [पूर्णावतार ब्रह्मस्वरूप वासुदेव को ज्ञानराय सत्य का सेतु कह रहे हैं। कि यह सगुण साकार विग्रह वस्तुतः निर्गुण निराकार सत्य तत्त्व तक पहुँचाने वाला सेतु है, प्रतीक है, प्रतिनिधि है।]

तो कृष्णजी वैकुण्ठींचा। चक्रवर्ती निजांचा।
सांगुतसे येरु दैवाचा। आइकतु असे ॥२४४॥

वे वैकुण्ठ के अधीश्वर श्रीकृष्ण, जो अपने निजजनों के लिये चक्रवर्ती सम्राट् हैं—वे बोल रहे हैं और दूसरा (यानी अर्जुन) भाग्यशाली सुन रहा है। [कभी-कभी ज्ञानेश्वर-वाणी में ऐसा हल्का सा आभास मिलता है मानो उन्हें अर्जुन से मीठी-ईर्ष्या होती हो कि वह भाग्यशाली तो साक्षात् श्रीकृष्ण को देखता था उनकी वाणी सुनता था

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और हम इस कलियुग में जन्मे हैं तो हमें केवल उनकी वाणी कहनी लिखनी ही होती है ।]

वह परम सौभाग्यशील उन श्रीकृष्ण का बोलना सुन रहा है। (यहाँ सञ्जय की बात पूरी हुई। अब ज्ञानदेव कहते हैं—)

आतां ययावरी। निरुपिती परी।
सञ्जयो म्हणे अवधारीं। धृतराष्ट्रा तें ॥२४५॥
तेचि रसाळ कथा। मर्हाठिया प्रतिपथा।
जाणिजेल आतां। अवधारिजो ॥२४६॥

वह जो रसमयी कथा हैं, जो संजय धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण-अर्जुन का संवाद सुना रहे हैं, वह रसपरिपूर्ण कथा है। उसी का प्रतिपथ मैं मराठी में बना रहा हूँ (a parallel path) (संस्कृत देवभाषा दिव्यभाषा कहलायी तो मराठी प्राकृत भाषा को उसके समान या उससे भी बढ़कर मधुर व रसाल बनाकर गीतार्थ कहने की प्रतिज्ञा महाराज ने पहले ही कही हुई है। पण्डितजनों का आग्रह था कि अध्यात्म-विषय का निरूपण संस्कृत में ही किया जाना चाहिये। इस पर ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा कि संस्कृत यदि देवभाषा है तो प्राकृत क्या चोरों ने बनायी है? सामान्य सभीजनों के बोलने व समझ में आने वाली भाषा भी तो वस्तुतः देव-निर्मित ही है)। संस्कृत भाषा में वेदोपनिषद् शास्त्रों की बात कही गयी, तो वह विद्वज्जनों के लिये है; उसे मैं मराठी में लोगों की भाषा में सब तक पहुँचाऊँगा। अतः मराठी में प्रतिपथ बनाकर मैं सबके लिये वेदार्थ सुलभ बना रहा हूँ। [सन्त तुकाराम ने गाया है—

"वेदांचा तो अर्थ आम्हांसीच ठावा
येरांनीं वहावा भार माथा!"

(वेदों का अर्थ तो हम भक्तजन ही जानते हैं, दूसरे (पण्डित) लोग तो माथे पर भार ढोते हैं!

"वेद अनन्त बोलिला, अर्थ इतुकाचि झाला!
राम कृष्ण हरि बोला! राम कृष्ण हरि!"

(वेद अनन्त बोले हैं उसका सार इतना ही होता है कि 'राम-कृष्ण-हरि बोलो!') हृदय में रमने वाले हैं उन्हें राम कहो! चित्त का आकर्षण कर लेते हैं उन्हें कृष्ण कहो! समस्त दोषों-पापों का हरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर लेते हैं उन्हें हरि कहो! अर्थ समझकर राम-कृष्ण-हरि बोलो! नहीं तो केवल जिह्वा का व्यायाम होगा!

पण्डितजन तो स्मृति में केवल शब्दों का अर्थ रखते हैं या शब्द ही रखते हैं—व्याकरण निरुक्त छन्द आदि का भार ढोते हैं। पर वास्तविक अर्थ-भाव तो हम भक्त ही जानते हैं। वेदार्थ के सच्चे स्वरूप से सीधा सम्बन्ध-संवाद हमारा ही होता है।]

हे रसिकजन कृपया अवधान दीजिये। [हमेशा महाराज कहते हैं अवधान दीजिये। सर्वाङ्ग को श्रवण (कर्ण) बनाकर यह कथा-संवाद सुनिये। श्रोताओं से कहते हैं—]

ज्ञानदेवो म्हणे तुम्ही। सन्त वोळगावेति आम्ही।
हें पढविलों जी स्वामी। निवृत्तिदेवों ॥२४७॥

ज्ञानदेव कहता है कि स्वामी श्री निवृत्तिनाथ सद्गुरुदेव ने हमें एक ही चीज सिखाई है कि "सन्तों के चरणों में बैठकर स्वाध्याय करो, सन्तों की सेवा करो! बस यही मनुष्य-जीवन में करने लायक काम है। गीता का भावार्थ कहना है वह भी स्वाध्याय समझते हुए ही करो, उपदेश देते हुए नहीं।"

[आपने देखा होगा कि पूरे अध्याय में कहीं भी आदेश या उपदेश का दावा नहीं है। ऐसी ऋजुवाणी शायद ही किसी अध्यात्म-ग्रन्थकी होगी।]

इसलिये हे सन्तजन कृपा करके यह रसमयी कथा अवधान देकर सुनिये। अब मैं श्रीकृष्णार्जुन-संवाद रूप में वेदार्थ को मराठी में कहता हूँ।

[आप कहेंगे कि अध्याय के अन्त में यह क्यों कहा कि 'सुनिये!' तो यह महाराष्ट्र की परम्परा है। अध्याय का विसर्जन अन्त करते हुए नहीं कहते, बल्कि आगामी अध्याय का प्रारम्भ इस विसर्जन के साथ ही कर देते हैं। श्रोताओं के चित्त में आगामी अध्याय का बीज साथ ही बो देते हैं। तब उस समय व अध्याय की पूर्णाहुति करते हैं।]

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे (भावार्थदीपिकायाञ्च)
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः
॥ हरये नमः हरये नमः हरये नमः ॥
—श्रीकृष्णार्पणमस्तु—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वन्दन

आरती ज्ञानराजा ! महाकैवल्य तेजा ! सेविती साधु-सन्त !
मनु वेधिला बा माझा ! आरती ज्ञानराजा !
लोपले ज्ञान जगीं; हित नेणती कोणी;
अवतार पाण्डुरङ्ग ! नाम ठेविले ज्ञानी। आरती···
प्रगट गुह्य बोले; विश्व ब्रह्मचि केले।
एका जनार्दनीं पायीं मस्तक ठेले। आरती···

* * * * *

आरती तुकारामा ! स्वामी सद्‌गुरुधामा !—सच्चिदानन्दमूर्त्ति !
पायी दाखवी आम्हा ! आरती तुकारामा !
तुकया तुलनेसीं, ब्रह्म रूपासीं आले।
रामा जनार्दनीं पायीं मस्तक ठेले। आरती····

* * * * *

घालीन लोटाङ्गन, वन्दीन चरण, डोळ्याँनी पाहीन रूप तुझे।
प्रेमें आलिङ्गीन, आनन्दे पूजीन, भावे ओवाळीन म्हणे नामा।
अकल्प आयुष्य व्हावें तया कुळाँ, माझिया सकळा हरिचा दासाँ।
कल्पनेची बाधा न हो कोणे काळीं, ही सन्तमण्डळी सुखी असो।
अहङ्काराचा वारा न लागो राजसाँ ! माझिया विष्णुदासाँ भाविकाँसी।
नामा म्हणे व्हावे तयांचे कल्याण ! जामुखीं निधान पाण्डुरङ्ग !!

* * * * *

जय जय राम कृष्ण हरि ! जय जय राम कृष्ण हरि !
जय जय गोविन्द हरि ! जय जय गोपाल हरि !
जय जय माधव हरि ! जय जय मुकुन्द हरि !
जय जय राम कृष्ण हरि !

पुण्डरीकवरद ! हरि ! विट्ठल ! श्रीज्ञानदेव ! तुकाराम !

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

[महाराष्ट्र परम्परानुसार श्री ज्ञानेश्वरी-पारायण के पश्चात् उक्त रीति से आरती गायी जाती है। फिर वक्ता महात्मा (सन्त नामदेव के शब्दों में) भगवान् से भक्तों के लिये आशीर्याचना करते हैं। मराठी का अर्थ प्रस्तुत है :—]

हम श्री ज्ञानराय की आरती करते हैं। जो महाकैवल्य-तेज-स्वरूप हैं। सब साधु-सन्त उनका सेवन करते हैं। उन्होंने मेरा हृदय वींध दिया है (मन मोह लिया है)। जब जगत् में ज्ञान लुप्त हो गया था, कोई हित को नहीं पहचानता था, तब भगवान् पाण्डुरङ्ग श्री विट्ठल (विष्णु) ने अवतार लिया; अपना नाम रखा—'ज्ञानदेव'। गुह्यतम परमतत्त्व को, निगमागम-रहस्य को, प्रासादिक भाषा में प्रकट खोल कर कहा। विश्व को ब्रह्मरूप बना दिया। श्रीजनार्दन-चरणों में मस्तक टेकते हुए एकनाथ परम-प्रिय श्रीज्ञानराजा की आरती करते हैं।

हम भक्तशिरोमणि-श्रीतुकारामजी की आरती करते हैं, जो सद्गुरु-धाम हैं, सच्चिदानन्द प्रभु की प्रकटमूर्त्ति-स्वरूप हैं, वे अपने चरणों के हमें दर्शन दें। तुकाराम की तुलना (स्वरूप, वाणी) में तो स्वयं ब्रह्म ने रूप धारण किया। श्रीजनार्दन-शिष्य राम उनके चरणोंमें प्रणाम करते हैं।

साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए, चरण-वन्दना करते हुए, प्रेम से आलिङ्गन करते हुए, आनन्द से पूजते हुए, भाव से आरती उतारते हुए, नामदेव कहते हैं कि मेरे श्रीहरि के सब दासों (भक्तों) के कुल में अकल्प (चिरन्तन) आयुष्य हो! कल्पना की बाधा (अविद्यात्मक सांसारिकता) उन्हें कभी आड़ी न आवे! यह सन्तमण्डली (सज्जन-वृन्द) सदा सुखी रहे। अहङ्कार (रूपी व्याधि) की हवा भी मेरे प्यारे इन भावभरे विष्णुभक्तों को कभी न लगे! नामदेव कहते हैं कि जिनके मुख में श्री पाण्डुरङ्ग-नाम का निधान है, उनका सदा-सर्वदा कल्याण हो॥

॥ अवधूत-चिद्रत्न श्रीसद्गुरुदेव दत्त ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष–परिशेष

[श्र० विमलाजी द्वारा श्री ज्ञानेश्वरी-व्याख्यान-प्रवचनों में बीच-बीच में कहे गये भूमिकात्मक, परिचयात्मक अंश]

श्री ज्ञानेश्वरी–पारायण क्यों ?

हम सब लोग यहाँ श्रीमती ज्ञानेश्वरी का स्वाध्याय करने बैठे हैं, यह स्वाध्याय है, कथा नहीं है। कथा करना मेरा पेशा भी नहीं है। यों तो अर्बुदाचल पर कुछ गम्भीर जीवन-साधकों के साथ यह स्वाध्याय वर्षों से चलता आया है, और शायद ही आबू से बाहर ज्ञानेश्वरी का सामुदायिक स्वाध्याय हुआ हो। आठ वर्ष पहले अहमदाबाद में इस प्रकार से स्वाध्याय हुआ था (१८ वाँ अध्याय) और कलकत्ता में स्वामी श्री अखण्डानन्दजी महाराज की इच्छा से इसी (१२ वें ही) अध्याय का पारायण हुआ था। श्री वसुभाई-चन्द्राबेन पारिख के आग्रह से यहाँ भावनगर में १९८७ अन्त यह पारायण हुआ।

इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराज की छबि रखना, विधिवत् पारायण करना, महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय की आरतियाँ गाना—यह हमारी जीवनशैली नहीं है, किन्तु इसका निषेध भी हमारे चित्त में नहीं है। यदि कुछ करना है तो उसके विधि-विधान को सम्हालते हुए उस कर्म को किया जाता है। पहले दिन जो कहा था वही अन्तिम दिन कहती हूँ कि विमल बहन के जीवन से, उनकी समझ से, संस्कारों से—जो ज्ञानेश्वरी में कहा गया है उसका अक्षरशः सम्बन्ध देखने की चेष्टा कोई न करे। यहाँ जो पौराणिक उल्लेख आते हैं या आयेंगे, वह सब हमें मान्य हैं—यह भ्रम रखने की भूल भी कोई न करे। श्री ज्ञानेश्वरी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। चेतना का एक आयाम ८०० वर्ष पहले एक बालयोगी की वाणी में व्यक्त हुआ। यह वारकरी-सम्प्रदाय का साम्प्रदायिक ही ग्रन्थ है ऐसा नहीं; एक क्रान्तिकारी कवि-योगी-भक्त का यह ग्रन्थ है। भक्ति के नाम से चेतना का एक नया आयाम महाराज ने बताया है। जिस चेतना में केन्द्र म अहं नाम का बिन्दु न हो; देह में गूँथे हुए पूर्वापर संस्कारों को जिसने धो डाला हो; प्रक्षालन किया हो; भूत-भविष्य के स्मृति व आशा के पाशों से जिसकी चेतना सर्वथा मुक्त हुई हो, ऐसी चेतना का एक आयाम शब्दबद्ध बना कर हमारे सामने रखा गया—A consciousness that has transcended the centre of the self, the me, the ego.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस ग्रन्थ का जो एक आकर्षण हमारे चित्त में है वह इस कारण से है कि बीसवी शताब्दी के इस अन्तिम चरण में, मनोविज्ञान-विशेषज्ञ जहाँ तक पहुँचे हैं, पदार्थ विज्ञानवेत्ता जहाँ पर खड़े हैं आज, उस बिन्दु की बात इन बालयोगी ने ८०० वर्ष पहले लिखी। Transcending the self-consciousness जिसका सामना पश्चिम के शोधक Physicists-Psychologists, chemisists लोग कर रहे हैं। केवल यह नई चेतना के आयाम की बात होती तो मैं जीवनसाधकों-अध्यात्मजिज्ञासुओं के सामने यह ग्रन्थ लेकर न बैठती, उसके साथ-साथ और एक बात है कि साधना अर्थात् अभ्यास-पूर्वक वह आयाम सिद्ध होने पर, जो जीवनचर्या बनती है, मानवीय सम्बन्धों में नये आयाम के जो स्पन्दन देखने को मिलते हैं, उसका भी अत्यन्त मनोज्ञ वर्णन विवरण यहाँ महाराज ने रखा है। चेतना का आयाम और उस आयाम से होने वाला गुणधर्मों का परिवर्तन, और उस परिवर्तन की दैनिक जीवन में अभिव्यक्ति क्या होती है यह ज्ञानेश्वर महाराज ने दिखाया है। मानवीय-सम्बन्धों में ही भक्ति जीयी जा सकती है। सम्बन्ध अवसर हैं मुक्ति को उपलब्ध करने के! सम्बन्ध अवसर है आत्मज्ञान एवं बोध पाने के! यह क्रान्तिकारी बात ज्ञानेश्वर महाराज ने कही है जा हमें सन्त एकनाथ या सन्त तुकाराम की वाणी में देखने को नहीं मिलती। उस आयाम की सिद्धि के सङ्केत अवश्य उनकी वाणी में मिलते हैं, लेकिन साधकों के लिये मार्ग या सोपान का निर्देश वहाँ नहीं है; यहाँ वह है—इसीलिये आपके सामने यह ग्रन्थ रखती हूँ।

स्वयं में जितनी शक्ति है, जितनी समझ है, अपने जीवन में जहाँ पहुँच कर खड़े हो गये हैं उस बिन्दु पर से इस ग्रन्थ की बात कही गयी है, कही जायेगी। ....मैं तो कोई वारकरी सम्प्रदाय की व्यक्ति नहीं हूँ, मेरे गले में तुलसी-माला नहीं, मन्दिरों में दर्शन करने जाती नहीं; मेरे साथ रहने वाले साधकों को भी ज्ञानेश्वरी पढ़ने, ज्ञानेश्वर महाराज का चित्र रखने, आरती उतारने आदि के लिये कभी कहती भी नहीं; फिर भी क्यों यह ग्रन्थ सबके सामने लेकर बैठती हूँ? वह इसीलिये कि बहुजन-समाज को यह समझने की नितान्त आवश्यकता है कि भक्ति क्या है? भक्ति का सत्त्व गले को तुलसीमाला में नहीं, ललाट के चन्दन-तिलक मे नहीं, नाचने-कूदने-गाने में नहीं है। वह सत्त्व कहीं और है। चेतना का आयाम-परिवर्तन भक्ति है, केवल ज्ञान नहीं। और ज्ञान से यदि गुण-परिवर्तन वृत्तिपरिवर्तन न हो तो वह ज्ञान केवल शब्दों का या बुद्धि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का विलास है, आत्मवञ्चना है। वैसे ही भक्ति केवल भावनाओं का विहार-विलास नहीं है। उसके पीछे तत्त्व की पहचान है; आत्मतत्त्व-परमात्मतत्त्व की पहचान है। उस पहचान के कारण मनुष्य में आया हुआ परिवर्तन ही भक्ति है। ज्ञानेश्वर महाराज की वाणी के आशय को हम चित्त में, जीवन में धारण करें। ६-७ दिन ज्ञानेश्वरी की ओवियाँ सुनने, आरती-कीर्तन गाने-सुनने में जो आनन्द आया होगा—वहीं तक इस श्रवण को सीमित न रखें। ज्ञानेश्वरी का पठन-पाठन-स्वाध्याय यदि अपने जीवन की गुणवत्ता में, जीने की शैली व वृत्ति में एवं चेतना के आयाम में, परिवर्तन लाने में कारण नहीं बनेगा तो इन १००-२००-५०० व्यक्तियों को सुन्दर श्रवण का आनन्द मिला—बस इतनी सी छिछली बात रह जायेगी। ऐसा न करें, इसे चित्त की, जीवन की गहराई में ले जायें—यह सभी से प्रार्थना है।

भारतीय परम्परा में किसी ग्रन्थ को प्रारम्भ करते समय बतलाना होता है कि इस ग्रन्थ का विषय क्या है, प्रयोजन क्या है? उस प्रयोजन से ग्रन्थ के विषय का सम्बन्ध क्या है? इस विषय-प्रयोजन व ग्रन्थ के अध्ययन के अधिकारी कौन हैं? इत्यादि। इसे 'अनुबन्धचतुष्टय' कहा जाता है। वह बताते हुए प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है कि श्रीमद्भगवद्गीता अध्यात्मपरक ग्रन्थ है। इसमें वेदों का सार है। इसलिये जिनको अध्यात्म में रस है ऐसे व्यक्ति श्रवण के अधिकारी हैं। यदि अध्यात्म में रस नहीं है—यानी, "यह सृष्टि क्या है? कैसे बनी? मैं कौन हूँ? मेरा इस सृष्टि के साथ क्या सम्बन्ध है? उस सम्बन्ध को काया-मन-वाणी के द्वारा कैसे जिया जाय?" यह जानने में यदि रस नहीं तो फिर ग्रन्थ-श्रवण में आनन्द नहीं आ सकता। यह पहले ही कह दिया गया। परम्परा ऐसी रही है इस देश में कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में नमन किया जाता है भगवान् को, देवी-देवताओं को, श्रीगुरु को; ज्ञानेश्वर महाराज ग्रन्थ का मङ्गलाचरण व प्रथम नमन करते हैं किसके प्रति?

"ॐ नमोजी आद्य! वेदप्रतिपाद्य! जय जय स्वसंवेद्य! आत्मलिङ्ग!"

इस नमन को देखिये! ग्रन्थ की फलश्रुति इस नमन में है। प्रणाम है उसे—जो आद्य हैं; प्रथम हैं, जिस से पहले कोई नहीं, अर्थात् जिसका कोई कारण नहीं; जो किसी से कहीं से कभी उत्पन्न नहीं हुआ; जो स्वयं ही सब कुछ का आदिकारण है The causeless cause of the universe! केवल 'अनादि-अनन्त' नहीं कहा, 'आद्य' कहा, जो स्वयम्भू है, स्वयं सिद्ध है जो स्वयं ही कारण है और स्वयं ही अविकृत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कार्य है। जो वेदों का प्रतिपाद्य विषय है, वेदों के लिये जो प्रमेयरूप है। उस आद्य का स्वरूप क्या है? उसके गुण-धर्म क्या हैं? उसका शील कैसा है?—स्वयंवेद्य! जो ज्ञानस्वरूप है, आपने आप ही अपने आपको जानता है या अपने आप ही जाना जाता है। ज्ञान आत्मा का गुण नहीं, क्रिया नहीं, ज्ञान आत्मा का स्वभाव-उपादान है। दृश्य एवं द्रष्टृत्व-समन्वित दर्शन, Self-aware consciousness. ऐसे आत्मलिङ्ग (जिसका अपना आप ही जिसका परिचायक चिह्न या लक्षण है) आत्मरूप को प्रणाम है।

यह है श्री ज्ञानेश्वरी का नमन। फिर आयु के १५वें वर्ष में श्रीगुरु श्री निवृत्तिनाथ (आयु में तीन वर्ष बड़े भाई) की आज्ञा से ज्ञानेश्वर ने दूसरा ग्रन्थ लिखा—अमृतानुभव या अनुभवामृत। उसमें नमन करते है—

"यदक्षरमनाख्येयमानन्दमजमव्ययम्।
श्रीमन्निवृत्तिनाथेति ख्यातं दैवतमाश्रये॥"

जो अक्षर है (जिसका क्षरण नहीं होता) जो अनाख्येय है जिसे कहा नहीं जा सकता—जिसका आख्यान, व्याख्यान, परिभाषा, लक्षण कुछ नहीं हो सकता—जो Indivisible है unfragmentable है। व्याख्या की संभावना या अवकाश तब होता है जब उस वस्तु से बाहर भी कुछ हो। जीवन की समग्रता ही जहाँ परमात्मा कहलाती है वहाँ परमात्मा की व्याख्या कैसे हो? जो आनन्द स्वरूप है, आनन्द देने वाला नहीं, आनन्द-कन्द है। जो अजन्मा है और अव्यय है, जिसमें कभी बढ़ना-घटना नहीं।—ऐसा जिनका स्वरूप है उन श्रीसद्गुरु श्री निवृत्तिनाथ नाम से ख्यात (प्रसिद्ध, या कहे जाने वाले) देवतत्त्व का आश्रय लेता हूँ।

अपने श्रीगुरु को वे किस स्वरूप में देख रहे हैं। लोग जिन्हें श्रीनिवृत्ति नाथ कहते हैं ऐसे उस नाम के आश्रय देह में विराजमान क्या तत्त्व है? जिसके साथ ज्ञानेश्वर ने अपना सम्बन्ध जोड़ लिया, उसका पहले चरण में उल्लेख कर दिया। इस प्रकार अध्यात्मपरक होने के कारण यह बड़ा गम्भीर ग्रन्थ है। महाराष्ट्र के जनसमुदाय के लिये लोकभोग्य (सामान्य-जनसुलभ) भाषा में ज्ञानेश्वर महाराज ने यह ग्रन्थ लिखा, लेकिन ८०० वर्ष पहले की यह मराठी भाषा अति-गम्भीर ज्ञान-समृद्ध होने के कारण आज के सामान्यजन तो क्या तथाकथित सुशिक्षित स्नातक विद्यार्थियों के लिये भी कठिन पड़ती है, क्योंकि भाषा बदलती गई; पहले की भाषा पर शतकों की धूल चढ़ती गई और भाषा की पद्धति व शैली बदलती गई।→

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

←

ज्ञानेश्वर महाराज बड़े सरल शब्दों का प्रयोग करते हुए भी अर्थ की जिस गहराई में चले जाते हैं उस गहराई तक उतरना उसे समझने के लिये अपेक्षित है। यह अध्यात्म-ग्रन्थ है, उपन्यास नहीं। इसे रोचक बनाना सम्भव नहीं। विषय इतना मौलिक है, मार्मिक है, गूढ़-गहन तत्त्व से अनुबन्धित है, कि उसके साथ पूरा सम्बन्ध रखे बिना कुछ भी कहना कठिन है।

—विमला—

प्रकाशन-क्रम

विषय		परिमल-अङ्क	पृष्ठ
१. प्रास्ताविक		४-६	१९-२३
श्लोक १-४	ओवी १-५१	,,	२४-४८
२. श्लोक ५-७	ओवी ५२-१०३	७-९	३३-६३
३. श्लोक ९-११	ओवी १०४-१४०	१०-१२	२१-४४
४. श्लोक १२-२०	ओवी १४१-२४७	परिशिष्ट	१-७४
५. पूर्णाहुति-आरती, अर्थ आदि		,,	७५-७६
६. विशेष परिशेष		,,	७७-८०

© विमला ठकार
शिवकुटी
आबू पर्वत ३०७५०१

आर्थिक सहाय
श्री ला० वेकरिया
राजकोट

सङ्कलन-सम्पादनादि
'शिवनिर्माल्य'
वाराणसी-५

प्रथम संस्करण १९९१ (क्रमशः चार अङ्कों में प्रकाशित)

मूल्य :—प्रस्तुत परिशिष्टाङ्क—१५ रुपया + डाक व्यय

सम्पूर्ण (चारों अङ्क, सत्सङ्ग-प्रश्नोत्तरियों सहित) ५० रुपया

मुद्रक—तारा प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी-२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आविर्भाव
ई० १२७१

तिरोभाव
१२९३ ई०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi